अध्याय – 1

भौतिक भू–विज्ञान एवं संरचनात्मक भू–विज्ञान
(Physical Geology and Structural Geology)

इस अध्याय में भौतिक भू–विज्ञान के अन्तर्गत वायु व नदी के भूवैज्ञानिक कार्य, भूकम्प व ज्वालामुखी तथा समस्थिति के बारे में जानकारी दी गई है। इसके अलावा महाद्वीपीय विस्थापन के सिद्धांत व प्लेट विवर्तनिकी के सिद्धांत की व्याख्या की गई है और हिमालय पर्वत श्रृंखला व थार के रेगिस्तान की उत्पत्ति को समझाया गया है। इस अध्याय में संरचनात्मक भूविज्ञान के तहत वलन, भ्रंश और विषम विन्यास के बारे में जानकारियां दी गई है।

वायु (पवन) के भूवैज्ञानिक कार्य
(Geological Work of Wind)

पृथ्वी की भूपर्पटी के शैलों पर क्रियाशील विभिन्न भौतिक एवं रासायनिक शक्तियों के फलस्वरूप शैलों का विखंडन होता है व शैल क्रमशः बड़े से छोटे आकार के होते जाते है। भौतिक शक्तियों द्वारा होने वाले परिवर्तन में शैलों के संघटन में बदलाव नही होता है, यह प्रक्रम विघटन (Disintegration) कहलाता है। वही दुसरी ओर रासायनिक तथा जीवाण्विक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होने वाले परिवर्तन में शैलों का संघटन परिवर्तित हो जाता है, यह प्रक्रम अपघटन (Decomposition) कहलाता है। पृथ्वी की सतह तथा इससे कुछ गहराई तक स्थित शैलों पर विभिन्न भूवैज्ञानिक कारकों यथा वायु (पवन) (Wind), सरिता (नदी) (River), हिमनद (Glacier) भूमिगत जल (Groundwater) महासागर (Ocean) द्वारा अपघटन तथा विघटन के संयुक्त प्रक्रम से विखण्डित शैल कण अपने मूल स्थान पर ही रह जाते है तथा स्थानान्तरित नहीं होते तब इस प्रक्रिया को अपक्षय (Weathering) कहते है। परन्तु अपक्षय के साथ यदि अपक्षीण शैल कणों का विभिन्न भूवैज्ञानिक कारकों द्वारा स्थानान्तरण हो जाए तब यह प्रक्रम अपरदन (Erosion) कहलाता है। भूवैज्ञानिक कारकों द्वारा पृथ्वी की भूपर्पटी की शैलों पर भूवैज्ञानिक कार्यों के अन्तर्गत अपरदन (Erosion), परिवहन (Transportation) एवं निक्षेपण (Deposition) के कार्य होते है।

वायु (पवन) द्वारा पृथ्वी की सतह पर स्थित शैलों पर अपरदन, परिवहन एवं निक्षेपण के विभिन्न भूवैज्ञानिक कार्य सतत रूप से होते है। इन कार्यों को वनस्पति – आवरण रहित एवं घने सतहीय अबद्ध शैल कणों वाले क्षेत्रों में देखा जा सकता है। वायु (पवन) का भूवैज्ञानिक कार्य अर्ध शुष्क एवं शुष्क क्षेत्रों में अधिक सक्रिय होता है।

पृथ्वी के भू–धरातल पर विभिन्न कटिबन्धों में विभिन्न वायुमण्डलीय दाबों की परिस्थितियों में पवन के एक क्षेत्र से दूसरे अन्यत्र क्षेत्र में भिन्न भिन्न वेग से प्रवाहित होने के फलस्वरूप आंधी, तूफान, चक्रवात, बवंडर (Tornado) इत्यादि की उत्पत्ति होती है।

वायु (पवन) द्वारा अपरदन (Wind Erosion)

वायु द्वारा अपरदन कार्य मुख्यतः भौतिक या यांत्रिक (Physical or Mechanical) रूपों में ही होता है तथा निम्नलिखित तीन विधियों से सम्पन्न होता हैः–

1. **अपवाहन** (Deflation) : इस प्रक्रम में वायु के वेग के साथ अत्याधिक मात्रा में बालू के कण एक स्थान से दूसरे स्थान तक हवा के साथ उड़कर परिवहित हो जाते है तथा यह प्रक्रम अपवाहन (Deflation) कहलाता है। यह वायु का प्रमुख भूवैज्ञानिक कार्य है, इसमें मरूस्थली एवं अर्द्ध मरूस्थली वनस्पति रहित क्षेत्रों में धूल व सूक्ष्म शैल कण वायु के साथ परिवहित होते है तथा स्थूल शैल कण पीछे ही रह जाते है। इस प्रकार मरूस्थल में पथरीली सतह अनावृत हो जाती है तथा इस प्रक्रम द्वारा शैल कणों की छँटाई का कार्य होता है। भूसतह के पास निम्न स्तर में वायु के साथ शैल कणों में स्थूल कणों की बहुतायत होती है परन्तु ऊंचाई बढ़ने के साथ ही सूक्ष्म शैल कणों की प्रचुरता हो

जाती है। गर्मी के मौसम में अंधड़ (Storm) के दौरान शैल कणों का वायु द्वारा कई किलोमीटर दूरी तक परिवहन होता है तथा इस प्रक्रम के कारण अपवाहन के फलस्वरूप भौमजल स्तर (Groundwater level) तक विभिन्न गहराईयों की द्रोणियों का निर्माण हो जाता है तथा मरूस्थलीय व मैदानी क्षेत्र से उपजाऊ मिट्टी के वायु द्वारा अपवाहन होने से जमीन बंजर हो जाती है।

2. **अपघर्षण** (Abrasion) : वायु द्वारा अपने साथ उड़ाकर लाए गये परिवाहित बालू कण अनावृत्त शैल–संस्तरों से वेग के साथ टकराने के फलस्वरूप शैलों की बाहरी असमान सतह अपघर्षण के कारण समतल व चिकनी हो जाती है तथा यह प्रक्रम पवन अपघर्षण (Wind Abrasion) कहलाता है। यह प्रक्रिया विभिन्न कारकों यथा बालू–कणों की प्रचुरता व कठोरता एवं इनकी माप व आकार, वायु के वेग और शैल–संस्तरों की कठोरता पर निर्भर करती है।

पवन–अपघर्षण के कारण कठोरता में विभिन्नता युक्त शैल – संस्तरों के अपरदन की दर में विभेद रहता है। कठोर शैलों के नीचे कम कठोर शैल–संस्तर होने पर इन नीचे स्थित शैल–संस्तरों का वायु द्वारा उड़ाकर लाये गये शैल एवं बालू–कणों द्वारा अपघर्षण के फलस्वरूप अधिक अपरदन हो जाता है जबकि ऊपर के कठोर शैलों का अपरदन कम होता है। यह प्रक्रिया अद्योरदन (Under Cutting) कहलाती है।

शैलों में संधि तल (Joint Planes) की मौजूदगी में अपघर्षण की क्रियाशीलता बढ़ जाती है व इस कारण संधि तल का माप बढ़ जाता है और अंत में संधित शैल खण्ड अलग अलग हो जाते है। वायु अपघर्षण के कारण चूना पत्थर (Limestone) व ग्रेनाइट शैलों की बाह्य सतह क्रमशः चिकनी व गर्तमय/चिकनी हो जाती है। आग्नेय शैलों की अपेक्षा अवसादी शैलों पर वायु अपघर्षण की क्रियाशीलता अधिक होती है।

3. **संनिघर्षण** (Attrition) : वायु के द्वारा उड़कर परिवहित हो रहे शैल कण एवं बालू कण आपस में टकराते रहते है जिससे इनकी आकृति व साईज में लगातार परिवर्तन होता रहता है तथा ये कण टूटकर छोटे आकार के हो जाते है और इनकी सतह चिकनी व आकृति गोल हो जाती है, यह प्रक्रिया पवन संनिघर्षण कहलाती है। पवन संनिघर्षण प्रक्रिया के लिए अनुकूल परिस्थितियों के तहत वायु तेज वेग के साथ चलती रहनी चाहिए ताकि बालू कण अधिक समय तक उड़ते हुए आपस में टकराते हुए अधिक दूरी तक परिवहित होते रहे तथा इनका निक्षेपण नहीं होना चाहिए।

वायु अपरदन निम्नलिखित कारकों से प्रभावित होता है –

1. वायु द्वारा अपरदन के लिए शुष्क जलवायु अनुकूल होती है। दिन व रात के तापमान में मरूस्थलीय जलवायु में अधिक अंतर होने के कारण दिन में अधिक तापमान के कारण शैलों का प्रसार होता है वहीं रात में कम तापमान होने के कारण शैलों का संकुचन होता है। शैलों के इस प्रकार के असमान प्रसार व संकुचन के फलस्वरूप इनमें दरारें निर्मित हो जाती है और दरारों पर बालू कणों द्वारा तीव्रता से अपरदन होता है।
2. वायु की गति व दिशा से भी वायु अपरदन प्रभावित होता है। अधिक गति होने पर वायु अपने साथ अधिक मात्रा में शैल व बालू कणों को परिवहित करती है तथा इनमें परस्पर संनिघर्षण भी अधिक होगा। अत्याधिक वेग के फलस्वरूप वायु के साथ उड़ने वाले बालू कण शैलों की अनावरित सतहों पर अधिक तीव्रता से टकराते हुए अपरदन का कार्य करते है। वायु की दिशा में बदलाव होने पर शैलों पर विभिन्न दिशाओं में अपरदन होता है।
3. शैल व शैल कणों के लक्षण भी वायु अपरदन को प्रभावित करते है। संधि एवं दरार युक्त शैलों पर बालू कण व शैल कण सरलतापूर्वक अपरदन का कार्य करते है। आग्नेय शैल की तुलना में अवसादी शैलों पर वायु अपरदन का कार्य सुगमता से होता है। वायु के साथ परिवहित बड़े शैल कणों द्वारा भूसतह के पास स्थित शैलों का अपरदन का कार्य अधिक होता है।

वायु (पवन) द्वारा परिवहन (Transportation by Wind)

वायु के द्वारा शैल कणों व बालू कणों का परिवहन निलम्बित अवस्था में या सतह पर लुढकते हुए होता है। परिवहन वायु के वेग व शैल कणों के आकार एवं घनत्व पर निर्भर करता है। वायु के वेग के साथ सूक्ष्म व कम घनत्व वाले शैल कणों का परिवहन कई किलोमीटर की दूरी तक हो जाता है। वायु के वेग, गति में परिवर्तन तथा वायु के बहने की दिशा में अवरोध आ जाने पर परिवहन का कार्य प्रभावित होता है। वायु के तीव्र वेग से बहने पर शैल कण अधिक मात्रा में अधिक दूरी तक परिवहित होते है। वायु की गति में कमी होने पर पहले बड़े शैल कणों व फिर सूक्ष्म शैल कणों का निक्षेपण हो जाता है। वायु के बहाव की दिशा में अवरोध यथा पेड़, पहाड़, इमारत इत्यादि के आने पर परिवहित हो रहे शैल कणों का निक्षेपण हो जाता है।

वायु (पवन) द्वारा निक्षेपण (Wind Deposition)

वायु की गति में बाधा होने के कारण वेग में परिवर्तन के फलस्वरूप परिवहित हो रहे शैल कणों का निक्षेपण प्रारम्भ हो जाता है तथा ये निक्षेप वातोढ निक्षेप (Aeolian Deposits)

कहलाते है। ये निक्षेप वायु के पुनः प्रवाहित होने पर अन्य स्थान को स्थानान्तरित हो जाते है। इन निक्षेपों में शैल कणों की छंटाई को देखा जा सकता है जो अवसादों के आकार एवं भार के अनुसार कणों के व्यवस्थित होने से होता है। बड़े आकार के व अधिक आपेक्षिक घनत्व वाले शैल कण पहले निपेक्षित होते है तथा इनके पश्चात छोटे कण जिनका आपेक्षिक घनत्व कम होता है निपेक्षित होते है परन्तु अति सूक्ष्म व हल्के कण वायु के साथ बहुत समय तक अर्थात लम्बी दूरी तक तैरते रहते है व वायुमंडल में ऊंचाई तक उड़ाकर ले जाये जाते है और वर्षा होने पर वर्षा जल के साथ पुनः भूसतह पर जमा होते है। वायु के वेग में कमी होने पर, वायु प्रवाह की दिशा में अवरोध होने पर और भूसतह में असमानता वाले क्षेत्रों में वायु प्रवाह के दौरान अनुकूल परिस्थितियों में वायु द्वारा निक्षेपण कार्य होता है।

वातोढ़ स्थलरूप (Aeolian Landforms)

वायु (पवन) के भूवैज्ञानिक कार्य यथा अपरदन, परिवहन और निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलरूप वातोढ़ स्थलरूप कहलाते है। मरूस्थली क्षेत्रों में इनकी बहुतायत देखी जा सकती है। प्रमुख वातोढ़ स्थलरूप संरचनाओं की जानकारी निम्नानुसार है –

वायु अपरदन से निर्मित संरचनायें

1. **वायुघृष्टाश्म** (Ventifacts) : वायु के एक ही दिशा में प्रवाहित होने पर अपघर्षण के कारण शैल खंडों पर वक्राकार समतल फलकों का निर्माण होता है तत्पश्चात् शैल खण्डों के विस्थापन या वायु की दिशा में परिवर्तन उपरान्त अपघर्षण से ही दूसरें फलक निर्मित होते है व प्रक्रिया के जारी रहने पर फलकों का निर्माण होता रहता है। ये फलक एक दूसरें से निश्चित कोण पर मिलकर तीक्ष्ण किनारें (Sharp Edges) बनाते हैं। वायु अपघर्षण द्वारा निर्मित ये फलक वायुघृष्टाश्म (Ventifacts) या ड्राइकाण्टर (Dreikanter) कहलाते है। कठोर खनिज क्वार्ट्ज की गुटिकाओं (Quartz Pebbles) पर इन संरचनाओं को देखा जा सकता है।

2. **छत्रक** (Mushroom) या **पीठिका शैल** (Pedestal Rock) : ये संरचनाएं वायु के खुरचाव, नाली निर्माण तथा अवखनन (Down Cutting) से निर्मित होती है। इस संरचना में आधार पर स्थित एक पतले स्तम्भ पर एक सपाट चट्टानी खण्ड स्थित रहता है। यह प्राकृतिक बनावट श्रृंग कहलाती है। जब मुलायम शैल–संस्तर के ऊपर कठोर शैल–संस्तर पाये जाते है तो भेददर्शी अपरदन के कारण ऊपरी कठोर शैल कम तथा नीचे स्थित मुलायम शैल अपेक्षाकृत अधिक अपरदित होती है। वायु की दिशा मे भी परिवर्तन होता रहता है। अतः विभिन्न दिशाओं में वायु द्वारा निरन्तर अपघर्षण के फलस्वरूप कालान्तर में शैलखण्डों का निचला स्तर ऊपरी स्तर की अपेक्षा अधिक अपरदित हो जाता है। फलतः विशाल शैल खण्ड पतले स्तम्भ पर आधारित रहते है व संकरे स्तम्भ के ऊपर चौड़ा समतल शैल खण्ड विरामित रहता है, ऐसी संरचना को छत्रक (Mushroom) या पीठिका शैल (Pedestal Rock) कहते है (चित्र 1.1)।

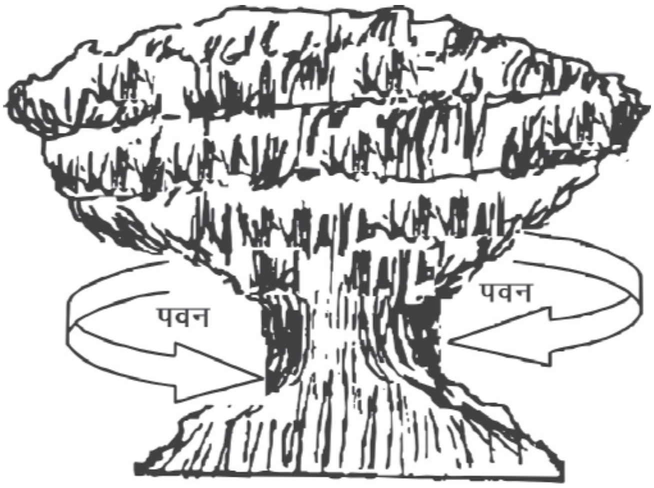

चित्र 1.1 : छत्रक या पीठिका शैल

3. **यारडांग** (Yardangs) : वायु के सदैव एक ही दिशा में प्रवाहित होने पर यदि उस क्षेत्र विशेष में, कठोर व मुलायम शैलों की एकान्तर क्रम में पट्टियां प्रवाहित वायु के समान्तर स्थित होती है तो विचित्र आकार व रूप की दृश्य भूमि का निर्माण होता है। वायु अपघर्षण के कारण कठोर शैलों के कम अपरदन के कारण कटक/स्तम्भ तथा मुलायम शैलों के अधिक अपरदन के कारण खांच निर्मित होते है। वायु अपघर्षण से क्षेत्र में कठोर शैल–स्तम्भ की आकृति के शिखर (Ridge) चिकने, नुकीले व गोल हो जाते है। दो शिखरों के मध्य में अपरदन के ही कारण पतले खांच (Furrow) निर्मित होते है तथा कालान्तर में क्षेत्र विशेष में चट्टानी पसलियों की भांति दृश्य भूमि प्रतीत होती है। इन्हें यारडांग कहते है। इनकी ऊंचाई 6–16 मीटर तथा चौड़ाई कई सौ मीटर तक हो सकती है।

4. **द्वीपाभ गिरि** (Inselberg) : वायु द्वारा अपघर्षण व अपवाहन द्वारा शैलों के अपरदन हो जाने से शुष्क व अर्द्ध शुष्क जलवायु वाले उन क्षेत्रों में जहां ग्रेनाइट पाई जाती है वहां पूरा क्षेत्र समतल मैदान में परिवर्तित हो जाता है तथा इस समतल स्थल पर कहीं–कहीं कठोर शैल के छोटे गुम्बद के सदृश्य आकृतियों के छोटे–छोटे टीलें मरूस्थल के रेत में द्वीप जैसे दिखाई पड़ते है। इनके किनारे खड़ी ढाल युक्त तथा शिखर गोलाई लिए होते है, इन टीलों को द्वीपाभ गिरी (Inselberg)

कहते है। इन्सेलबर्ग जर्मन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ पर्वत द्वीप होता है (चित्र 1.2)।

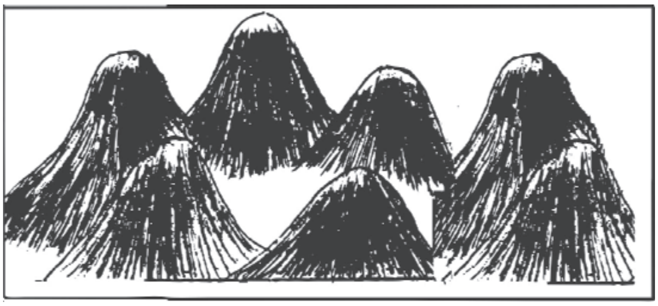

चित्र 1.2 : द्वीपाभ गिरी (इन्सेलबर्ग)

वायु निक्षेपण से निर्मित संरचनायें

1. **लोएस** (Loess) : यह वायूढ़ निक्षेप सूक्ष्म कणों से निर्मित होता है जो रेत (Sand) के कणों से छोटे मगर मृतिका (Clay) से बड़े होते है। वायु द्वारा परिवहित धूल कण मरूस्थलों के किनारे या पर्वतों की ढालों पर जमा हो जाते है व अति सूक्ष्म कणिक जमाव निर्मित होते है जिन्हें लोएस कहते है। इनका रंग पीला या हल्का भूरा होता है। यह विभिन्न मोटाई (कुछ मीटर से लेकर 100 मीटर या अधिक) की एक ढीली–ढाली राशि होती है। इसमें स्तरण का अभाव होता है। इसमें मृतिका, क्वार्ट्ज, फेल्सपार, अभ्रक, कैल्साइट इत्यादि के सूक्ष्म कण विद्यमान रहते है। लोएस के जमाव उत्तरी चीन, मध्य एशिया, मध्य यूरोप, संयुक्त राज्य अमेरिका और अर्जेंटीना में पाये जाते है।

2. **बालू टिब्बें** (Sand Dunes) : बालू के एकत्र होने से बालुका टिब्बा का निर्माण मरूस्थलों में होता है। इन टिब्बों के शिखर गोल होते है। सामान्यतः टीब्बें एक साथ पाये जाते है। वायु के प्रवाहित होने की दिशा में ऊंची नीची भूमि, पेड़ों–झाड़ियों के अवरोध से वायु के मार्ग में बाधा के कारण वेग में कमी हो जाती है, जिस कारण वायु की परिवहन क्षमता कम हो जाती है फलस्वरूप बालू कणों का निक्षेपण प्रारम्भ हो जाता है। बालू कणों के जमाव से अवरोध बढ़ने पर क्रमशः और अधिक बालूकणों का निक्षेपण निरन्तर चलता रहता है व अत्याधिक निक्षेपण से टीलों का निर्माण होता है। बालू टिब्बों की ऊंचाई मरूस्थलों में 30 मीटर से 90 मीटर तक होती है। मरूस्थल का 1/3 से 1/4 तक क्षेत्र बालू टिब्बों से आच्छादित रहता है।

बालू टिब्बों की रचना के लिए बालू की प्रचुरता, बालू–संचयन के लिए स्थान, वायु का तीव्र वेग, अद्योभौमिक जल स्तर की निम्न स्थिति तथा दिशा एवं वायु के मार्ग में अवरोध आवश्यक होते है। बालू टिब्बा की संरचना या बनावट में पवनाभिमुख (Windward side) की ओर लम्बा एवं उत्तल मंद ढाल और पवनाविमुख दिशा (Leeward side) की ओर खड़ा व अवतल अधिक ढाल रहता है। इसमें पवनविमुख दिशा में पवन–भंवर से बालू राशि में गुफा के समान आकृति का निर्माण हो जाता है। यह पवनविमुख पार्श्व सर्पण फलक (Slip face) कहलाता है । बालू के कण पवनाभिमुख पार्श्व से उड़ाकर ले जाये जाते है व बालू टिब्बों के शीर्ष में गिरते है व लुढक कर पवनविमुख पार्श्व के ढाल पर एकत्रित होते है। पवनविमुख ढाल पर बालू के कण जिस कोण पर रूकते है, वह विश्राम कोण (Angle of repose) कहलाता है। यह झुकाव 20° से 40° तक होता है तथा बालू के कणों पर निर्भर करता है। बालू टिब्बों में क्रॉस संस्तरण (Cross Bedding) तथा तरंग चिन्ह (Ripple Marks) पाये जाते है।

बालू टिब्बों को आकार के आधार पर तीन प्रकार में विभेदित किया गया है –

1. अनुदैर्ध्य बालुका टिब्बा (Longitudinal Sand dune)
2. अनुप्रस्थ बालुका टिब्बा (Transverse Sand dune)
3. परवलयिक बालुका टिब्बा (Parabolic Sand dune)

अनुदैर्ध्य बालुका टिब्बा (Longitudinal Sand dune) : ये टिब्बें मरूस्थल व आर्द्र क्षेत्रों मे बनते है। बालू की प्रचुरता तथा वनस्पति के अभाव में इनकी उत्पत्ति होती है। इनमें बालूकणों का एकत्रीकरण श्रेणी की भांति लम्बवत् होता है। ये श्रेणियां प्रायः समानान्तर होती है तथा दांत के आकार में होती है जिसे सीफ (Seif) कहते हैं। भारत में मानसूनी हवाओं द्वारा समुद्री तटों पर इस प्रकार के टिब्बों का निर्माण होता है। राजस्थान के मरूस्थल भाग में इस तरह के टिब्बें मिलते है। इन टिब्बों का निर्माण वायु की दिशा के अनुकूल होता है।

अनुप्रस्थ बालुका टिब्बा (Transverse Sand dune) : ये टिब्बें तरंग चिन्ह की आकृति के बड़े रूप में दृष्टिगत होते हैं तथा वायु के मार्ग में बाधा आ जाने पर बालूकणों का निक्षेपण होने की दिशा में लम्बरूप निर्मित होते है। इनका विस्तार वायु की दिशा के लम्बवत् होता है। टिब्बों की समान्तर कतारों के मध्य एक छोटी पट्टी होती है जिसमें वायु के हल्के झंवर पैदा हो जाते हैं जो बारीक बालू को उड़ाकर मध्य भाग को गहरा करते रहते हैं। इनका मन्द ढाल वायु की दिशा में और खड़ा ढाल प्रतिपाती दिशा में होता है। विशाल मात्रा में बालुका राशि के उड़ने से प्रायः वनस्पति पूर्णतः नष्ट हो जाती है। बालू का टीला जहां अकेला होता है वहां निरन्तर एक ही दिशा में बहने वाली हवा टीले के दोनों पार्श्वों में टीले के नुकीले ओर लम्बे दो सिरे बना देती है। इनका ढाल पवनाभिमुख की ओर उत्तल और पवनाविमुख की ओर अवतल होता है। ऐसे टीले चापाकार टीब्बा (Barchan) कहलाते है। बरखान का अरबी भाषा में अर्थ अर्द्ध चन्द्राकार होता है। ये राजस्थान के मरूस्थल में पाये जाते हैं। बरखान अनुप्रस्थ

टिब्बा का रूप है। इनके विस्तृत किनारों को श्रृंग (Horn) कहते हैं जो पवन के बहने की दिशा सूचित करते है। इनकी ऊंचाई 1–2 मीटर से 15 मीटर तक होती है (चित्र 1.3)।

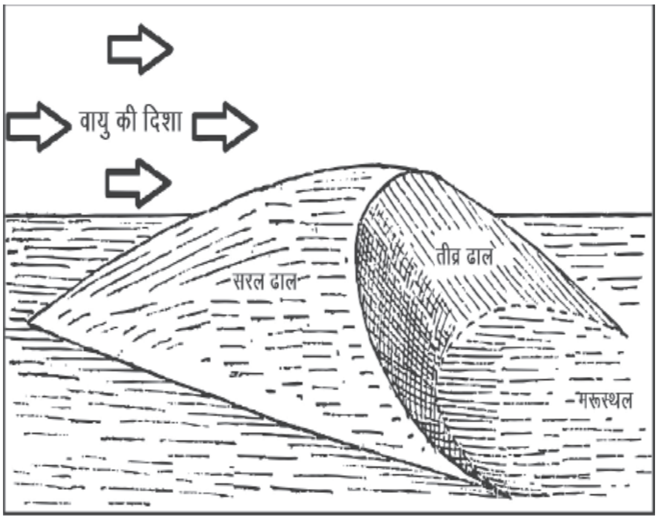

चित्र 1.3 : चापाकार टीब्बा
(अनुप्रस्थ बालुका टिब्बा–बरखान)

परवलयिक बालुका टिब्बा (Parabolic Sand dune) : इस प्रकार के बालू टिब्बों में पवनाभिमुख ढाल पर मन्द ढाल होता है या घर्षण के फलस्वरूप इन पर गड्ढे बन जाते हैं। पवनविमुख ढाल तीव्र होता है जहां बालू कणों का निक्षेप होता है। समुद्र तटीय भागों में पाये जाने वाले वातगत टिब्बें (Blow out Sand dunes) इसके उदाहरण है।

नदी के भूवैज्ञानिक कार्य
(Geological Work of River)

मानव की विकास गाथा में नदियों की प्रभावशाली भूमिका रही है व अधिकांश पुरातन मानव सभ्यताओं का विकास नदियों के किनारे ही हुआ था। वर्तमान काल में नदियों का उपयोग सिंचाई, पेयजल योजनाओं, विद्युत उत्पादन, परिवहन, मत्स्य उद्योग इत्यादि में किया जाता है।

पर्वतीय अंचलों में वर्षा जल, हिमनद के पिघलने से उपलब्ध जल, झील–झरने या भूमिगत जल के विभिन्न स्त्रोतों से सतत् जल की उपलब्धता रहती है तथा थलाकृति की असमानता के फलस्वरूप प्रारंभिक ढाल उपलब्ध हो जाती है। सतत् जल व प्रारंभिक ढाल की उपलब्धता नदी की उत्पत्ति के लिए आवश्यक कारक है। पर्वतीय अंचलों में उपलब्ध ढालों के लघुपथ से जल प्रवाहित होकर छोटी जल धाराएं या अवनालिकाएं (Gullies) बनाता है जो निम्न ढालों पर आपस में मिलकर छोटी सरिता का रूप लेती है। छोटी सरिताएं आपस में मिलकर बड़ी सरिता का निर्माण करती है तथा इस प्रकार पर्वतीय अंचल में एक शाखन–अपवाह प्रतिरूप (Branching Drainage Pattern) विकसित होता है। बड़ी सरिताएं आपस में मिलकर नदी का निर्माण करती है। मुख्य नदी, सहायक नदियों व सरिताओं का सम्मिलित प्रतिरूप नदी तंत्र (River System) कहलाता है। वर्ष पर्यन्त जल प्रवाहित होने वाली नदियों का उद्गम पर्वतीय अंचल से हिमनद के पिघलने से या विशाल भूमिगत जल स्त्रोत से जल प्राप्ति के कारण मुख्यतः होता है तथा इन्हें स्थायी नदी कहते हैं। अन्य नदियों में मुख्यतः वर्षा जल ही प्रवाहित होता है अतः यह ग्रीष्म ऋतु में सूख जाती है, इन्हे आन्तरायिक नदी (Intermittent River) कहते हैं। अधिकांश नदियां पर्वतीय क्षेत्र से होकर मैदानी भागों में बहती हुई अंत में समुद्र में मिल जाती है, इन्हें समुद्री नदी (Marine River) कहते हैं। वहीं दूसरी ओर मरूस्थल, झील या अनूप में विलीन होने वाली नदियां महाद्वीपीय नदी (Continental River) कहलाती है।

नदी प्रवाह में जल समतल जलमार्ग में वाहिकाओं के पार्श्व के समान्तर सीधी सरल रेखा में प्रवाहित होता है तब इसे स्तरीय प्रवाह (Laminar Flow) कहते हैं। वहीं जल वेग वृद्धि की स्थिति में वाहिका की अनियमितताओं के संस्पर्श में जलवेग में परिवर्तन के साथ जल प्रवाह चक्रीय धारा के रूप में प्रवाहित होता है। इस प्रकार का जल प्रवाह प्रक्षुब्ध–प्रवाह (Turbulent Flow) कहलाता है।

नदी तंत्र के विकास की चार प्रमुख अवस्थाएं क्रमशः प्रारम्भिक अवस्था (Infant Stage), तरूणावस्था (Youth Stage), प्रौढ़ावस्था (Mature Stage) एवं वृद्धावस्था (Old Stage) है। नदी इन चारों अवस्थाओं में अलग–अलग व्यवहार प्रदर्शित करती है।

प्रारम्भिक अवस्था में नदी अपने उद्गम स्थल अर्थात पर्वतीय अंचल में अधिक ढाल वाले क्षेत्र में प्रक्षुब्ध प्रवाह के साथ तेज गति से बहती हुई मुख्यतः अवखनन (Down Cutting) का कार्य करती है तथा 'V' आकृति की घाटी का निर्माण करती है। पर्वतीय क्षेत्र में नदीपथ में असमानताओं के कारण नदी जल प्रपात (Water fall), क्षिप्रिका (Rapid), सोपानी पात (Cascade), महाखड्ड (Gorge), गंभीर खड्ड (Canyon), एवं तंग घाटियों (Narrow Valleys) का निर्माण करती है। इस अवस्था में सहायक नदियों का भी विकास होता है।

तरूणावस्था में भी नदी पर्वतीय प्रदेश में अधिक ढाल के कारण तीव्र वेग से प्रवाहित होती हुई मुख्यतः अवखनन का कार्य करती है तथा नदी घाटी क्रमशः गहरी होती जाती है। नदी प्रवाह के साथ निम्न ढालों की ओर अपरदित पदार्थों का परिवहन होता है। इस अवस्था में सहायक नदियों के विकास के साथ नदी अपहरण भी होता है।

प्रौढ़ावस्था में नदी की लम्बी परिच्छेदिका कम अनियमितता वाली होती है तथा नदी का कार्य अपरदित पदार्थों का परिवहन तथा पार्श्व अपरदन होता है। इस अवस्था में जल प्रपात नहीं पाये जाते तथा बाढ़ अधिक आती हैं, नदियां अधिक गहरी होती है। नदियां पर्वतीय क्षेत्र से नीचे उतर कर मैदानी भाग में आ जाती है तथा प्रवणता में कमी के कारण इनके वेग में कमी आ जाती है। इस कारण नदी के अपरदन व परिवहन क्षमता में कमी होने लगती है तथा वाहित अवसादों का निक्षेपण प्रारंभ हो जाता है एवं जलोढ़ शंकु (Alluvial Cone) व जलोढ़ पंखों (Alluvial Fans) का निर्माण होता है। नदी घाटी का फैलाव होता है तथा घाटी तल समतल होने लगता है। इस अवस्था में नदी अपने दोनों किनारों पर बाढ़ के समय लाए गए अवसादों को विशाल क्षेत्र में निक्षेपित कर बाढ़–कृत मैदान (Flood Plain) अर्थात् कछार का निर्माण करती है। प्रौढ़ावस्था में नदी अधिकतर स्तरित प्रवाह से बहती है मगर थलाकृति की अनियमितता के कारण नदी वक्राकार रूप में बहने लगती है, इसे विसर्पण (Meandering) कहते हैं (चित्र 1.4)।

भूभाग की मूल में अनियमितता अथवा घाटी–तल के शैलों के संघटन व संरचना अथवा अवसादों के निक्षेपण अथवा अन्य कारणों से जब नदी के मार्ग में अवरोध पैदा हो जाते हैं तो नदी मार्ग बदल घुमावदार रास्ते से प्रवाहित होने लगती है तथा वक्राकार बहाव के फलस्वरूप नदी के प्रवाह में वक्र के अवतल पार्श्व में उत्तल पार्श्व की तुलना में वेग अधिक होने के कारण अपरदन होता है, वहीं उत्तल पार्श्व में अवसादों का निक्षेपण होता

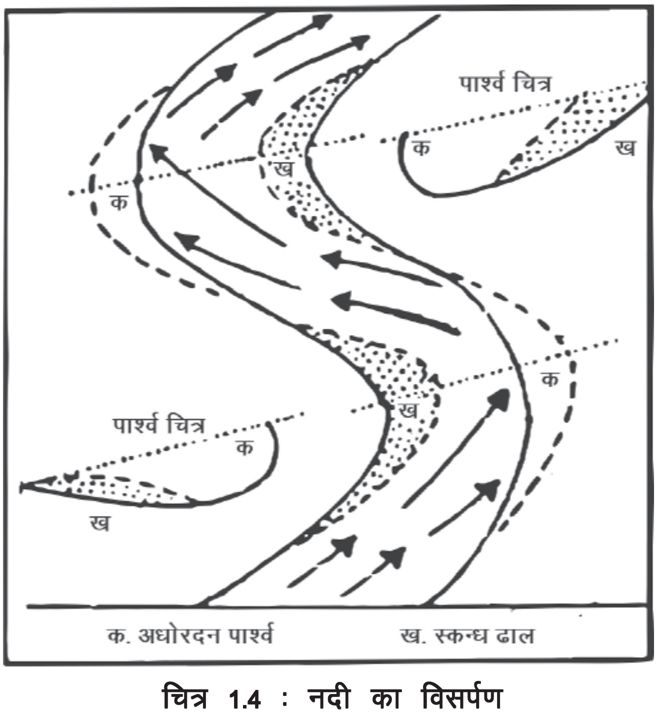

चित्र 1.4 : नदी का विसर्पण

है। वक्रों के अवतल और उत्तल पार्श्वों में अपरदन की भिन्नता के कारण वक्रता क्रमशतः बढ़ती जाती है एवं वक्र पाशकुण्डली (Loop) का रूप ले लेता है। धीरे–धीरे पाश कुण्डली की ग्रीवा संकरी होती जाती है। कुछ अल्प समयावधि के लिए जब नदी के वेग में वृद्धि हो जाती है तब पाशकुण्डली की संकरी ग्रीवा अपरदित हो जाती है तथा नदी पुनः सीधी प्रवाहित होने लग जाती है। अलग हुई पाशकुण्डली झील में परिवर्तित हो जाती है, इस प्रकार की झील 'झाड़ झील' या 'चाप झील' (Ox-bow or Horse shoe lake) कहलाती है (चित्र 1.5)।

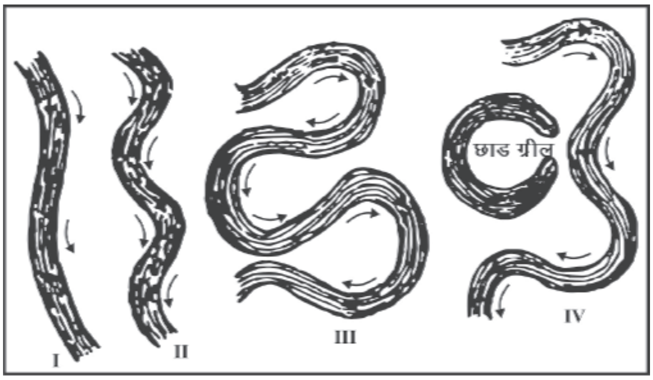

चित्र 1.5 : झाड़ झील या चाप झील

वृद्धावस्था में नदी समुद्र तल के नजदीक अपने साथ वाहित अपरदित पदार्थ तथा जलोढक (Alluvium) से समतल और मंद ढाल वाले क्षेत्र का निर्माण करती है। मंद गति से प्रवाहित नदी अन्ततः समुद्र में मिलकर विलीन हो जाती है। नदी एवं समुद्र के संगम स्थल पर ज्वारनदमुख (Estuary) या डेल्टा (Delta) बनता है (चित्र 1.6)।

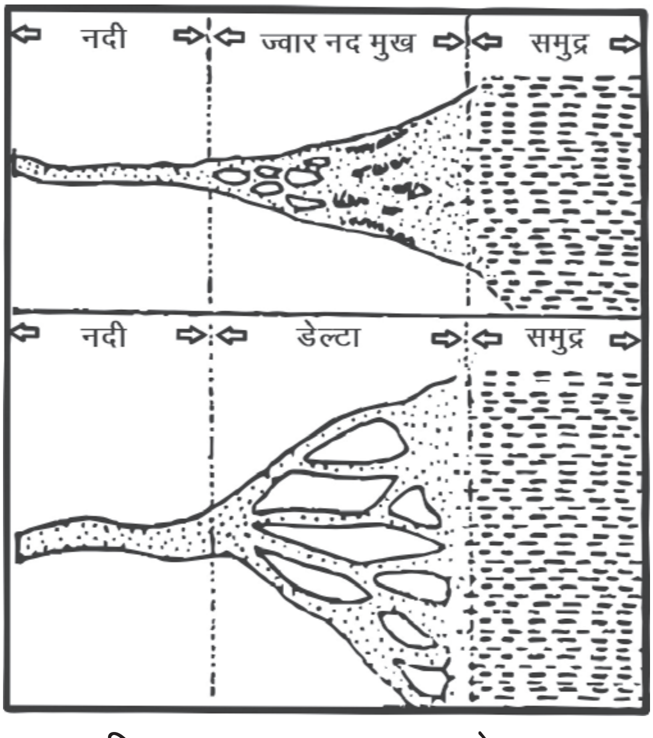

चित्र 1.6 : ज्वारनदमुख तथा डेल्टा

नदी तंत्र के विकास के उपरोक्त पूर्ण क्रम को नदीय चक्र (Fluvial Cycle) कहते हैं। नदी के जल स्तर की समुद्र सतह से ऊँचाई को नदी के उद्गम से मुख तक की लम्बाई के विरूद्ध आलेखित करने पर निर्मित वक्ररेखा को नदी परिच्छेदिका (River Profile) कहते हैं।

उत्पत्ति तथा विकास के आधार पर नदियों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है–

1. **अनुवर्ती नदी** (Consequent River) : इन नदियों का प्रवाह नव निर्मित भूधरातल के प्रारम्भिक ढाल प्रवाह द्वारा नियंत्रित होता है। उदाहरण – कृष्णा, कावेरी, गोदावरी।

2. **अ–अनुवर्ती नदी** (Inconsequent River) : इन नदियों के प्रवाह का अधःस्थ शैल–संस्तर की संरचना से कोई संबंध नहीं रहता है और भूधरातल की वर्तमान संरचना इन नदियों के प्रवाह को नियंत्रित नहीं करते है। उदाहरण – गंगा, बह्मपुत्र, सिंधु।

3. **परवर्ती नदी** (Subsequent River) : यह मुख्य नदी द्वारा निर्मित घाटी की ढालों पर विकसित सहायक नदी है जो मुख्य नदी के प्रवाह की दिशा में ही प्रवाहित होकर अन्ततः मुख्य नदी से मिल जाती है। उदाहरण – गंगा नदी की सहायक नदियां कोशी व गण्डक।

4. **प्रत्यनुवर्ती नदी** (Obsequent River) – यह भी सहायक नदी का प्रकार है, जो मुख्य नदी द्वारा निर्मित घाटी के ढालों पर ही विकसित होती है परन्तु इस नदी का प्रवाह मुख्य नदी की विरूद्ध दिशा में होता है।

सहायक सरिताओं और मुख्य नदी के सामूहिक रूप में बहाव से किसी क्षेत्र में निर्मित होने वाले विन्यास को अपवाह–प्ररूप (Drainage Pattern) कहते हैं। नदी के भूवैज्ञानिक कार्य द्वारा भूसतह पर विशेष प्रकार के अपवाह प्ररूप निर्मित होते हैं जो क्षेत्र विशेष, प्रारम्भिक ढाल, शैलों के संघटन, कठोरता के अलावा क्षेत्र में उपस्थित भ्रंशों, वलनों, संधियों तथा पटल विरूपण जैसे घटकों पर निर्भर करते हैं। मुख्य अपवाह प्ररूपों में द्रमाकृतिक, जालीनुमा, समकोणिक, अरीय, वलयाकार, समान्तर तथा कंटकीय प्ररूप महत्वपूर्ण है।

नदी के भूवैज्ञानिक कार्य

नदियों द्वारा भूवैज्ञानिक कार्य के तहत अपरदन, परिवहन तथा निक्षेपण होता है। नदी में जल प्रवाह के तीव्र वेग के फलस्वरूप अपरदन तथा परिवहन के कार्य होते हैं तथा वेग में कमी होने पर मुख्यतः निक्षेपण कार्य होने लगता है।

नदी द्वारा अपरदन (River Erosion)

नदियों द्वारा अपरदन दो प्रकार से होता है– बलकृत अपरदन तथा रासायनिक अपरदन। बलकृत अपरदन में नदी अपने किनारों को अपनी जल धारा की शक्ति से ही काटती है तथा रासायनिक अपरदन में नदी के तल का घुलनशील पदार्थ नदी के जल में घुलकर प्रवाहित होने लगता है।

नदी द्वारा अपरदन कार्य निम्नलिखित चार विधियों द्वारा होता है–

1. जलीय/द्रवचालित क्रिया (Hydraulic Action)
2. अपघर्षण क्रिया (Abrasion)
3. संनिघर्षण क्रिया (Attrition)
4. संक्षारण क्रिया (Corrosion)

1. **जलीय/द्रवचालित क्रिया** : इस क्रिया में नदी का प्रवाहित जल नदी के तल तथा किनारों की शैलों को असंहत कर विघटित कर देता है और बलकृत अपरदन की सामग्री को जल में बहा देता है।
2. **अपघर्षण क्रिया :** इस क्रिया में नदी के तल तथा किनारों की शैलों का नदी भार से पारस्परिक भौतिक रगड़ होता है। नदी के तेज जल प्रवाह के साथ–साथ शैल कणों का परिवहन होता है जो नदी तल व किनारों से लगातार टकराते हैं व घर्षण क्रिया से शैलों का बलकृत अपरदन करते है, इसके फलस्वरूप नदी तल व किनारे क्रमशः समतल रूप प्राप्त करते हैं। नदी तल के अप्रतिरोधी शैलों के लगातार अपघर्षण से वृत्ताकार या दीर्घवृत्ताकार गर्तों का निर्माण होता है, इन्हें जलज–गर्तिका (Pot Holes) कहते हैं। ये संरचनाएँ नदी जल की सर्पिल धारा में फँसे हुए शैलकणों के नदी तल के एक ही स्थान पर लगातार अपघर्षण करते रहने के फलस्वरूप निर्मित होती है। इस प्रक्रिया में नदी तल का अवखनन होता है। बालुकाश्म (Sandstone), चूनापत्थर (Limestone) व शेल (Shale) जैसी अप्रतिरोधी चट्टानों में जलज गर्तिकाओं का निर्माण होता है।
3. **संनिघर्षण क्रिया** : नदी के जल में प्रवाह में प्रवाहित शैल कणों द्वारा अनवरत अपघर्षण का कार्य होता रहता है तथा ये शैल कण स्वयं भी लगातार घर्षण के कारण खण्डित होते रहते है व अन्ततः चिकने व निष्कोण हो जाते है। इस प्रकार अपघर्षणकारी शैल कणों के विघटन की प्रक्रिया को संनिघर्षण कहते हैं, इसके फलस्वरूप नदी द्वारा वाहित शैलकणों की आकृति गोलाकार हो जाती है।
4. **संक्षारण क्रिया :** नदी द्वारा रासायनिक अपरदन भी होता है चूंकि जल बढ़िया घोलक होने के साथ एक प्रमुख रासायनिक कारक भी है अतः विलयन शक्ति द्वारा शैलों का अपरदन व रासायनिक प्रतिक्रिया द्वारा अपघटन होता है।

विलयन क्रिया और रासायनिक प्रतिक्रिया का यह संयुक्त प्रक्रम संक्षारण क्रिया कहलाता है। इस प्रक्रिया द्वारा नदी तल व नदी के किनारों के शैल क्रमशः अपरदित होते रहते है।

नदी द्वारा अपरदन का कार्य निम्नलिखित कारकों द्वारा प्रभावित होता है–

1. नदी में जल की मात्रा
2. नदी के जल की प्रवाह गति
3. नदी के जल का भार
4. नदी के तल की बनावट
5. नदी घाटी का विकास व ढाल की प्रवृत्ति
6. नदी द्वारा वाहित शैल पदार्थों की कठोरता

नदी द्वारा परिवहन (Transportation by River)

नदियों में विद्यमान विभिन्न आकार व प्रकार के अपरदित पदार्थों का जल के प्रवाह के साथ परिवहन करती है। यह दो प्रकार यथा बलकृत परिवहन तथा घुलित पदार्थों का परिवहन द्वारा होता है। नदी परिवहन पांच विधियों –कर्षण (Traction), उत्परिवर्तन (Saltation), निलम्बन (Suspension), घोल (Solution) और प्लवन (Floatation) द्वारा होता है। नदी द्वारा परिवहित अपरदित तथा घुलित पदार्थों की कुल मात्रा को नद भार (Load of River) कहते हैं। नदी अपने नदभार को अपने उद्‌गम स्थल से परिवहित करती है व अन्ततः इसे समुद्र में विसर्जित करती है। बलकृत परिवहन नदी प्रवाह के वेग, भंवर एवं धाराओं वाहित शैल पदार्थों के आकार, साईज व घनत्व पर निर्भर करता है। नदी के वेग का दुगुना होने पर इसकी परिवहन क्षमता 32 गुना तक बढ़ जाती है। नदी परिवहन के दौरान वाहित शैल पदार्थों की छंटाई (Sorting) होती है, बड़े व अधिक घनत्व वाले शैल कण कम दूरी तक और छोटे व कम घनत्व वाले शैल कण अधिक दूरी तक परिवहित होते हैं। नदी में भंवर और धाराओं की मदद से तथा नदी के जल के आयतन में बढ़ोतरी होने से इसकी परिवहन क्षमता बढ़ जाती है। नदी के जल की विलयन क्षमता भी इसके परिवहन को प्रभावित करती है। नदी के जल में मुख्य रूप से कैल्शियम एवं मेग्नेशियम के कार्बोनेट तथा कैल्शियम, मेग्नेशियम, पोटेशियम, सोडियम आदि के सल्फेट घुलित अवस्था में रहते हैं व नदी जल के साथ परिवहित होकर अन्ततः समुद्र में मिलते है तथा समुद्र की लवणता में बढ़ोतरी करते हैं। इनकी मात्रा बढ़ने से जल के घनत्व में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप पदार्थों की उत्पलावकता बढ़ जाती है जो नदी की परिवहन क्षमता को बढ़ाती है।

नदी द्वारा निक्षेपण (River Deposition)

नदी द्वारा अपरदन तथा परिवहन का कार्य साथ–साथ चलता रहता है परन्तु नदी के वेग में कमी होने पर निक्षेपण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अपरदन की पूरक प्रक्रिया निक्षेपण होती है। नदी में जल की मात्रा में, धारा–वेग में तथा ढाल प्रवणता में कमी होने पर निक्षेपण प्रारम्भ होता है। नदी–प्रवाह में अवरोध, नदी जल में फैलाव और नद–भार में वृद्धि भी निक्षेपण में सहायक होती है। नदी के निक्षेपण से नदी घाटी में निम्न प्रकार के रूप एवं आकृतियां बनती हैं–

1. जलोढ़ शंकु या पंखा (Alluvial Cone or Fan)
2. बालुका पुलिन (Sand Banks)
3. प्राकृतिक तट बांध अथवा प्राकृतिक बांध (Natural Levees or Natural Embankment)
4. बाढ़कृत मैदान (Flood Plain)
5. डेल्टा (Delta)

1. **जलोढ़ शंकु या पंखा :** नदियाँ जब मैदानी क्षेत्र में प्रविष्ठ होती है तो इनकी गति मन्द होने के कारण परिवहन क्षमता में कमी हो जाती है जिसके फलस्वरूप मोटी बजरी, बालू, शैलकण इत्यादि के शंकु के आकार के टीलों के रूप में एकत्र हो जाते हैं। ऐसे अनेक टीले एक में मिलते हैं तो उनकी आकृति पंखे के समान दृष्टिगत होती है। सूक्ष्म कण अथवा रेत के कछारी शंकु बने होते हैं। छोटी–छोटी नदियां अधिक ढालू शंकु बनाती है। जलोढ़ पंखा मिलकर यदि कई किलोमीटर विस्तृत मैदान का निर्माण करते है तब इसे निरापद जलोढ़ मैदान या बाजदा (Piedmont Alluvial Plain or Bajada) कहते हैं। जलोढ़ पंख शुष्क तथा अर्द्ध शुष्क प्रदेशों में तथा हिमालय क्षेत्र में मिलते हैं।

2. **बालुका पुलिन :** नदियों की घाटी के मध्य में बाढ़ की स्थिति में विभिन्न प्रकार से अवसाद जमा हो जाते हैं और बालू के अवरोधी पुलिन बन जाते हैं। इस प्रकार के नदी निक्षेपण से धीरे–धीरे नदी की तलहटी निकटवर्ती समीपस्थ मैदानों की अपेक्षा ऊँची हो जाती है।

3. **तट बांध :** नदी की मध्यवर्ती घाटी में निक्षेपण की प्रक्रिया होती है। बाढ़ की स्थिति होने पर नदी के प्रवाह की दिशा में जहां–जहां घुमावदार मोड़ पड़ते है वहां–वहां इसके किनारों पर मोटी बजरी, बालू और कंकड़–पत्थरों का जमाव होने लगता है तथा नदी के किनारे की भूमि आस–पास की भूमि से अधिक ऊँची होकर कालान्तर में 5 से 7 मीटर ऊँचाई का ऊँचा कगार बनाती है, इसे तट बांध कहते हैं। बाढ़ के समय नदी के पानी को ये कगार रोकते हैं, अतः इन्हें प्राकृतिक बांध भी कहते हैं।

4. **बाढ़कृत मैदान :** बाढ़ की परिस्थितियों में नदी के समीपस्थ क्षेत्र में मिट्टी के बारीक कणों के निक्षेपित होने से बाढ़ का समतल व लहरदार मैदान बनता है इनका उच्चावच कम होता है। इनमें सरिता मार्ग में जल मार्ग रोधिका (Channel Bars) तथा विसर्प (Meanders) के भीतरी भाग में विसर्पी रोधिका (Point Bars) पाये जाते हैं।

5. **डेल्टा** – नदी का वेग इसके किनारों पर नदी के मध्य भाग में वेग की तुलना में कम होता है फलस्वरूप मध्य भाग का जल समुद्र में अधिक दूरी तक प्रवाहित होता है व अवसाद समुद्र में सुदूर तक जिह्वा के आकार में जमा होता है परन्तु किनारों पर जल के वेग में कमी होने के कारण अवसाद समुद्र के संगम पर ही समाप्त हो जाता है। नदी का जल कई धाराओं में बहकर समुद्र में मिलता है तथा नदियों के मुहाने पर ग्रीक भाषा के अक्षर डेल्टा (Δ) की आकृति के त्रिभुजाकार मैदान बन जाते हैं, इन्हें डेल्टा कहते हैं। डेल्टा स्थिर जल में नदी जनित अवसाद के तीव्र निक्षेपण के फलस्वरूप निर्मित होते हैं। डेल्टा नदी के अन्तिम भाग का वह समतल मैदान है जिसका निर्माण समुद्र के भीतर नदी द्वारा प्रवाहित अवसाद से होता है और इसमें नदी का जल अनेक धाराओं द्वारा समुद्र में पहुंचता है। डेल्टा के मैदान का ढाल समुद्र की ओर रहता है।

भूकम्प (Earthquake)

पृथ्वी के अन्दर होने वाली घटना के फलस्वरूप जब भूधरातल का कोई भाग अकस्मात कुछ क्षणों के लिए कांप उठता है तो इसे भूकम्प कहते हैं, यह प्रक्रिया भूधरातल तथा इसके नीचे स्थित शैलों के प्रत्यास्थ (Elastic) या गुरुत्व साम्यावस्था (Gravitation equilibrium) की अल्पकालिक गड़बड़ी के कारण उत्पन्न होती है परन्तु तीव्रता से होने पर भारी जान–माल का नुकसान करती है। पृथ्वी की गहराई में जहाँ पर शैलों में विक्षोभ होता है वहीं से ही पृथ्वी में कम्पन होता है। विक्षोभ होने वाले स्थान से दूरी के साथ ही कम्पन कम होता जाता है और साथ ही साथ विध्वंस भी कम होता जाता है। ज्वालामुखी विस्फोट, भ्रंशन के कारण शैल संस्तरों के विस्थापन से, भूस्खलन इत्यादि से भी भूकम्प उत्पन्न हो सकते हैं। भूकम्प के दौरान तीन तरह की भूकम्पीय तरंगों का संचारण होता है।

भूकम्पीय तरंगे पृथ्वी की गहराईयों से ही उत्पन्न होती है तथा क्रमशः फैलती हुई भू–धरातल पर संचारित होती है। पृथ्वी की गहराई में जिस स्थान पर से भूकम्पीय तरंगे उत्पन्न होती है वह स्थान भूकम्प का उद्गम केन्द्र (Focus) या अवकेन्द्र (Hypocentre) कहलाता है। यह उद्गम केन्द्र एक बिन्दु के रूप में नहीं होकर, एक विभिन्न लम्बाई का रैखिक स्थल होता है। उद्गम केन्द्र के ठीक ऊपर भूधरातल पर जो स्थान होता है उसे भूकम्प का अधिकेन्द्र (Epicentre) कहते हैं। भूधरातल पर भूकम्प के एक ही समय पर पहुँचने वाले स्थानों को जोड़ने वाली रेखा सह भूकम्प–रेखा (Homoseismal or Co-Seismal line) कहलाती है। भूधरातल पर समान तीव्रता वाले स्थानों को जोड़ने वाली रेखा को समभूकम्प रेखा (Isoseismal line) कहते हैं (चित्र 1.7)।

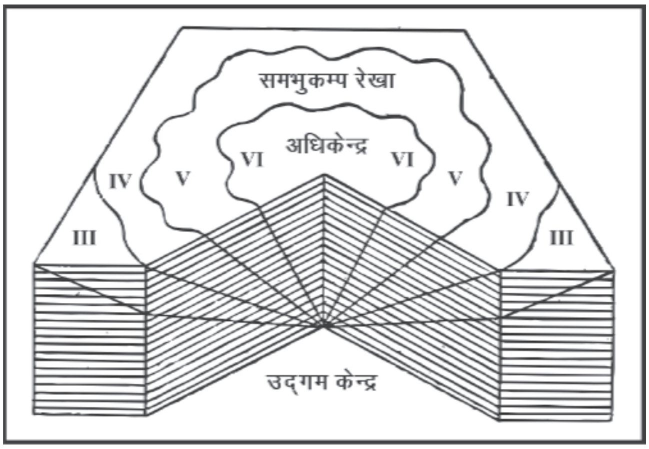

चित्र 1.7 : भूकम्प का उद्गम केन्द्र, अधिकेन्द्र व समभूकम्प रेखा

भूकम्प का उद्गम केन्द्र जब महासागर के ठीक नीचे होता है तो इन परिस्थितियों में प्रघाती तरंगे स्थल मण्डल से निकलकर समुद्र जल में से होती हुई सतह पर फैलती है व इन्हें समुद्री–कम्प (Sea quakes) कहते हैं। इनसे समुद्र सतह पर तरंगे उत्पन्न होती है। अन्तः समुद्री भूकम्प के कारण समुद्री तल के कुछ भागों में हलचल एवं विस्थापन होने के कारण समुद्र में भंयकर तूफान के साथ विशाल जल तरंगे तीव्र वेग से गतिमान होती है, ये भयंकर समुद्री तूफानी तरंगे जापानी भाषा में 'सुनामी' (Tsunami) कहलाती है। परिमाण –8 या इससे अधिक मान वाले अन्तः समुद्री भूकम्प ही सुनामी तरंगो को उत्पन्न करते हैं। सुनामी तरंगे प्रायः 400 से 800 किलोमीटर प्रति घण्टे के वेग से हजारों किलोमीटर की दूरी तय करती है। खुले समुद्र में ये तरंगे लम्बी होती है परन्तु इनकी ऊंचाई अधिक नहीं होती है वही दूसरी ओर समुद्र तटों के निकटस्थ क्षेत्रों में सुनामी तरंगे विकराल रूप में होती है व भंयकर जान–माल का नुकसान करती है।

भूकम्पीय तरंगे (Seismic Waves)

भूकम्पीय अभिलेखन के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि मुख्यतः तीन तरह की भूकम्पीय तरंगे ध्वनि एवं प्रकाश तरंगों की ही भांति संचारित होती है। तीन मुख्य भूकम्पीय तरंगों की जानकारी निम्नानुसार है–

1. **प्राथमिक तरंग** (Primary Wave) : भूकम्प अभिलेखन प्रेक्षण स्थल से जब भूकम्प की उत्पत्ति 10° से 50° पर होती है

तो सबसे पहले प्राथमिक तरंगे पहुंचती है। इनकी गति 8 से 15 किलोमीटर प्रति सैकण्ड तक होती है। भूकम्प अभिलेख का पहला भाग प्राथमिक तरंग कहलाता है, ये तरंगे अनुदैर्ध्य और संपीडन प्रवृति की होती है जो ध्वनि तरंगों के अनुरूप व्यवहार करती है। इनमें कणों का कम्पन्न आगे–पीछे होता है। ये तरंगे ठोस, द्रव व गैस तीनों माध्यमों में गमन कर सकती है।

2. **द्वितीयक तरंग** (Secondary Wave) : भूकम्प अभिलेखन प्रेक्षण स्थल पर प्राथमिक तरंगों के पश्चात द्वितीयक तरंगे पहुंचती है, इनकी गति 5 से 6.5 किलोमीटर प्रति सैकेण्ड होती है। ये तरंगे अनुप्रस्थ तथा अपरूपण प्रवृति की होती है। ये तरंगे प्रकाश तरंगों के अनुरूप होती है अतः इनमें कणों का विस्थापन संचरण दिशा के लम्बवत् होता है तथा केवल ठोस माध्यम में ही संचारित होती है। प्राथमिक व द्वितीयक तरंगे पृथ्वी की गहराईयों में उत्पन्न होती है तथा प्रकाशकीय नियमों के अनुसार अपवर्तन (Refraction) एवं परावर्तन (Reflection) के नियमों का पालन करती है।

3. **पृष्ठीय तरंग/सतही तरंग या दीर्घ तरंग** (Long Wave) : भूकम्प अभिलेखन प्रेक्षण स्थल के तीसरे भाग पर दीर्घ तरंग पहुँचती है। ये पृष्ठीय (सतही) तरंगे धरातल पर ही संचारित होती है, इनकी गति 3 से 5 किलोमीटर प्रति सैकेण्ड होती है परन्तु भूकम्प के कारण धरातल पर इन्हीं तरंगो की वजह से भयंकर जान–माल का नुकसान होता है। दीर्घ तरंगो के पश्चात पश्च–प्रघात तरंगो (After Shock Waves) का संचारण होता है। दीर्घ तरंगों की तुलना में इनका वेग कम होता है तथा ये तरंगे कई दिनों या महिनों तक आती रहती है।

भूकम्पों की उत्पत्ति (Origin of Earthquakes)

भूकम्पों की उत्पत्ति मुख्यतः विवर्तनिक तथा अविवर्तनिक कारणों से होती है। अधिकांश भूकम्पों की उत्पत्ति के लिए विवर्तनिक कारण जिम्मेवार होते हैं। विवर्तनिक हलचलों के कारण पृथ्वी के भूपर्पटी (Crust) के कुछ भागों के शैल संस्तरों का अकस्मात विस्थापन होता है, यह प्रक्रिया भ्रंशन कहलाती है। इस प्रक्रिया के दौरान जनित आवेग के कारण भूसतह के अन्दर कम्पन होता है जो धरातल के अन्य भागों में कम्पित लहरों के रूप में फैल भूकम्प की उत्पति करता है। यह प्रक्रिया एच.एफ. रीड ने 'प्रत्यास्थ प्रतिक्षेप सिद्धांत' (Elastic Rebound Theory) के द्वारा समझायी। इसके अनुसार भूपर्पटी से संलग्न भागों के विरूद्ध दिशाओं में अतिमंद गति से स्थानान्तरण के फलस्वरूप संचित प्रतिबल जब एक निश्चित सीमा से अधिक हो जाता है तथा विकृति को सहन करने की शक्ति से परे हो जाता है तब अकस्मात भूभागों के विस्थापन होने से प्रत्यास्थ विकृति की मुक्ति होती है तथा इस तरह शैलों के भ्रंशन के फलस्वरूप भूकम्पों की उत्पत्ति होती है। चित्र 1.8 के द्वारा प्रत्यास्थ प्रतिक्षेप सिद्धांत को समझा जा सकता है। इस सिद्धांत के अनुसार चित्र 'अ' में दर्शित भूखण्ड पर ऊर्ध्वाधर प्रतिबल क्रियाशील है जिनके द्वारा प्रतिबल क्रमशः संचित हो रहा है। चित्र 'ब' के अनुसार ऊर्ध्वाधर प्रतिबल के क्रमशः संचित होते रहने के कारण इसमें मोड़ उत्पन्न हो जाता है। यह संचित प्रतिबल जब प्रत्यास्थ सीमा से अधिक हो जाता है तब चित्र 'स' के अनुसार भूखण्ड भंग हो जाता है तथा एक भाग भ्रंश (Fault) से नीचे की ओर तथा दूसरा भाग भ्रंश के ऊपर की ओर विस्थापित हो जाता है।

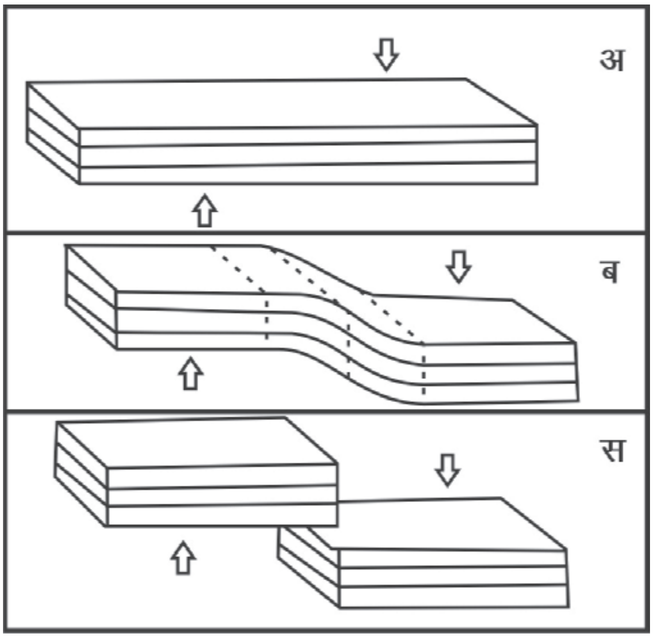

चित्र 1.8 : प्रत्यास्थ प्रतिक्षेप सिद्धांत

अविवर्तनिक कारणों यथा ज्वालामुखी उद्‌गार, भूस्खलन, अवधाव, कन्दराओं की छत निपात, परमाणु विस्फोट, खनन, अत्यधिक भूजल दोहन जैसी घटनाएं भी भूकम्पों को कभी–कभी जन्म देती है। इन भूकम्पों की तीव्रता कम होती है तथा इनका अभिलेखन भूकम्पलेखी (Seismograph) द्वारा किया जा सकता है।

भूकम्पों के उद्‌गम केन्द्रों की गहराई के आधार पर भूकम्पों को निम्न तीन प्रकार में वर्गीकृत किया गया है–

1. सामान्य भूकम्प : उद्‌गम केन्द्र की गहराई 50 किलोमीटर तक।
2. मध्यवर्ती भूकम्प : उद्‌गम केन्द्र की गहराई 50-250 किलोमीटर तक।
3. गंभीर भूकम्प : उद्‌गम केन्द्र की गहराई 250-800 किलोमीटर तक।

भूकम्पलेखी (Seismograph)

भूकम्प के अतिक्षीण से लेकर तीव्र प्रघातों के अभिलेखन हेतु प्रयुक्त यंत्र को भूकम्पलेखी (Seismograph) कहते हैं (चित्र 1.9)।

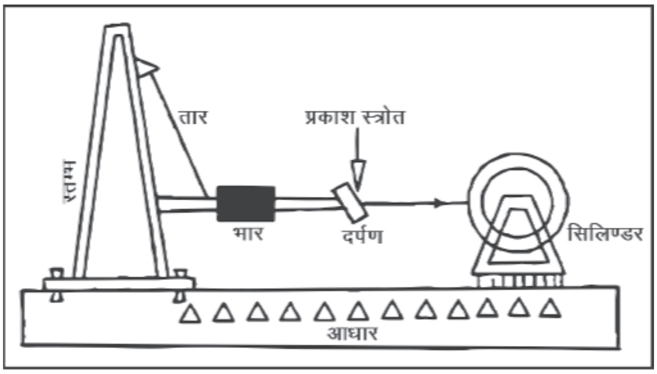

चित्र 1.9 : भूकम्पलेखी यंत्र

इस यंत्र में एक गहरी नींव पर निर्मित मजबूत स्तम्भ से एक झड़ कीलकित (Pivoted) रहती है। छड़ के दूसरी ओर वजनी भार संलग्न रहता है जो क्षैतिज तल में सफलतापूर्वक हिल–डुल सकता है। भूकम्प आने पर स्तम्भ भी हिलता है। छड़ में संलग्न भार अपने वजन के कारण स्थिर अवस्था में रहने की कोशिश करता है। भूकम्प आने पर छड़ के अंतिम सिरे तथा भूकम्पलेखी के शेष भाग के तुलनात्मक दोलन को अभिलेखित किया जाता है। छड़ के अन्तिम सिरे में एक दर्पण संलग्न रहता है तथा कुछ दूरी पर एक लम्बे स्क्रू पर घुमने वाले ड्रम पर फोटोग्राफी वाला कागज लिपटा रहता है। ड्रम घुमने पर इसके ऊपर लिपटी हुई फोटोग्राफी शीट प्रकाश किरण के लम्बरूप घूमती है। भूकम्प के दौरान इस फोटोग्राफी शीट पर प्रकाश किरण द्वारा भूकम्प की तरंगे अभिलेखित हो जाती है। बिना भूकम्प की सामान्य स्थिति

चित्र 1.10 : ब्रोड बेंड डिजीटल भूकम्प अभिलेखी यंत्र

में फोटोग्राफी शीट पर सीधी सरल रेखा खिंचती रहती है परन्तु भूकम्प के अतिक्षीण प्रघात की स्थिति में भी यह वजन कम्पित हो जाता है व फोटो शीट पर भूकम्पीय तरंगो के अनुरूप तरंगे खिंचती रहती है व भूकम्पीय तरंगो का अभिलेखन हो जाता है इसे भूकम्प–अभिलेख (Seismogram) कहते हैं। विभिन्न भूकम्पीय प्रेक्षण स्थलों पर भूकम्प अभिलेखी यंत्रों (Seismographs) की स्थापना की जाती है तथा ये भूकम्पों का लगातार अभिलेखन करते रहते हैं। वर्तमान में उच्च तकनीक वाले आधुनिक भूकम्पलेखी यंत्रों – ब्रोड बेंड डिजिटल भूकम्प अभिलेखी यंत्र (Broad-band Digital Seismograph) (चित्र 1.10) द्वारा भूकम्पों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

भूकम्प की तीव्रता

भूकम्प के कारण भूधरातल पर होने वाले विध्वंस में जानमाल के नुकसान के आधार पर भूकम्प की तीव्रता का आकलन किया जा सकता है। इस आधार पर धरातल पर होने वाली क्षति के आकलन अनुसार रोसी व फोरेल ने भूकम्पों को विभिन्न तीव्रता के भिन्न–भिन्न 10 प्रघात प्रकारों तथा मरकाली ने 12 प्रघात प्रकारों वाले अलग–अलग पैमाने निर्धारित किए। मरकाली ने अपने पैमाने में धरातल पर उत्पन्न त्वरण से कम्पन की तीव्रता का मापन किया। भूकम्पीय तीव्रता, भूकम्प के कारण होने वाले त्वरण के लॉगरिथम के अनुपाती होती है, इस आधार पर वैज्ञानिक रिक्टर ने भूकम्प की तीव्रता का पैमाना प्रस्तुत किया इसे रिक्टर स्केल कहते हैं। भूकम्प द्वारा संस्तरों के विस्थापन से निर्मुक्त होने वाली ऊर्जा से भूकम्प की तीव्रता का परिमाण (Magnitude) का सम्बन्ध रहता है। इस पैमाने पर सर्वाधिक तीव्रता 8.9 से अधिक चिली में 22 मई, 1960 में आये भूकम्प की आंकी गई थी। भूकम्प की ऊर्जा को अर्ग में मापा जाता है। यह प्रायः 10^{10} (भूकम्प के तीव्रता पैमाने पर परिमाण – 1) से 10^{26} (परिमाण – 9) तक होती है।

भूकम्पों का वितरण

पृथ्वी पर कोई भी क्षेत्र भूकम्प से अछूता नहीं है। पृथ्वी पर आने वाले भूकम्पों के 95 फीसदी भूकम्प दो कटिबन्धों में ही अधिकतया आए हैं। पहला कटिबंध प्रशांत महासागर को चारों ओर से घेरता हुआ है, इसे परि–प्रशांत कटिबंध (Circum Pacific Belt) कहते हैं। यह कटिबंध 40000 किलोमीटर लम्बाई व 150–350 किलोमीटर चौड़ाई तक विस्तृत है। पृथ्वी पर आने वाले अधिकांश भूकम्प इसी कटिबंध क्षेत्र में आते हैं। दूसरा कटिबंध पूर्व से पश्चिम की ओर फैला हुआ है। इस कटिबंध का विस्तार दक्षिणी एशिया माइनर, भूमध्य सागर क्षेत्र आजोर, पश्चिमी द्वीप समूह, मध्य अमेरिका, हवाई द्वीप व पूर्वी द्वीप समूह से होते हुए म्यांमार, हिमालय तथा आल्पस क्षेत्र तक है। इस कटिबंध को भूमध्यी–भूकम्पी कटिबंध (Mediterranean Seismic Belt) कहते हैं। इन दोनों कटिबंधों के अलावा मध्य अटलांटिक कटक क्षेत्र,

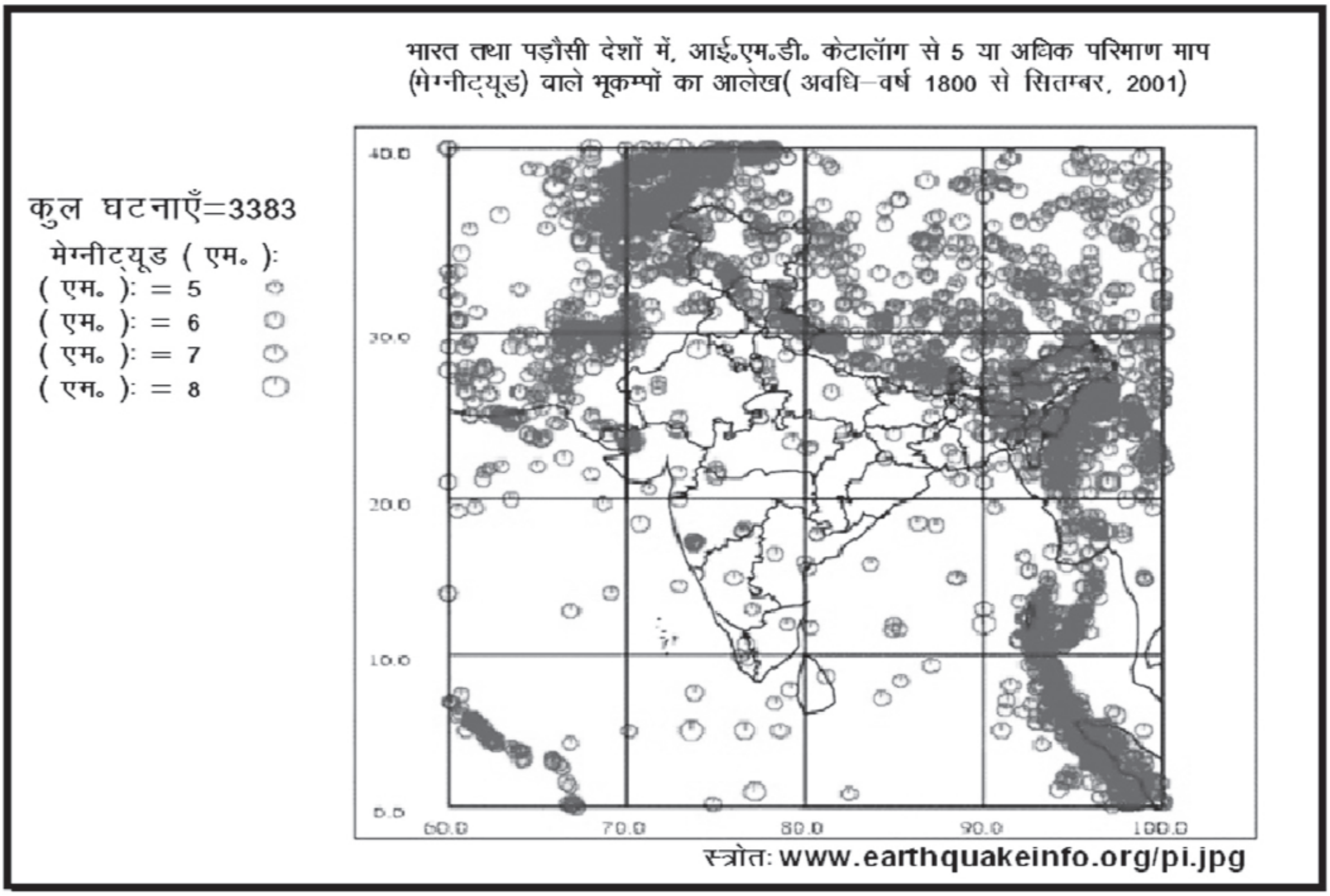

चित्र 1.11 : भारत में भूकम्पों का वितरण

पूर्वी अफ्रीका की रिफ्ट घाटी क्षेत्र और प्रशांत महासागर एवं हिन्द महासागर क्षेत्र में भी भूकम्प आते रहते हैं। विश्व में हर वर्ष करीब 10 लाख भूकम्पन होते हैं किंतु इनमें से 95 फीसदी की तीव्रता 2 से कम होने के कारण ये हमें महसूस नहीं होते तथा केवल भूकम्पलेखी द्वारा दर्ज किये जाते हैं। एशियाई देश भी भूकम्पों से प्रभावित है। पृथ्वी की गहराई में होने वाली आंतरिक हलचलों के पृष्ठीय रूप भूकम्प तथा ज्वालामुखी है अतः पृथ्वी के ज्वालामुखी कटिबंध एवं भूकम्पीय कटिबंध एक ही है।

भारत में असम से कश्मीर तक विस्तृत हिमालय पर्वतीय क्षेत्र भूकम्प की दृष्टि से अतिसंवेदनशील है। गंगा–यमुना तथा बह्मपुत्र नदियों के मैदानी क्षेत्र तथा भारत के दक्षिणी प्रायद्वीपीय क्षेत्र भी भूकम्प से प्रभावित है। कच्छ–अंजार (गुजरात) असम, अंडमान–निकोबार द्वीप समूह, जम्मू कश्मीर, शिलांग पठार, पूर्वोत्तर प्रदेश, हिमाचल, जबलपुर, कोयना–लाटूर (महाराष्ट्र), उत्तरकाशी में भूकम्पों ने विनाश किया है (चित्र 1.11)।

अतिसंवेदनशील भूकम्प प्रभावित क्षेत्रों में नवीन तकनीक से भूकम्परोधी इमारतों के निर्माण से नुकसान से बचाव किया जा सकता है। स्टील ढांचे तथा प्रबलीकृत कंक्रीट के इस्तेमाल से तथा लकड़ी के तख्तों के उपयोग से भूकम्परोधी भवनों का निर्माण किया जा सकता है। इन भूकम्प प्रभावित क्षेत्रों के मकानों में यथासंभव खिड़कियों–दरवाजों की संख्या कम रखनी चाहिए।

भूकम्पीय तीव्रता की माप तथा उनके लगभग समान परिमाणों को तालिका – 1.1 (भूकम्प की तीव्रता का मरकाली पैमाना) में बताया गया है।

भारतीय मानक संस्थान ने भारत में आए भूकम्पों की तीव्रता को अभिलेखित करते हुये तथा भूकम्पीय क्षेत्रों को दर्शाते हुए मानचित्र प्रकाशन के द्वारा भारत को निम्नलिखित पांच भूकम्पीय प्रक्षेत्रों का निर्धारण किया है–

प्रक्षेत्र – I भूकम्पीय तीव्रता 5 या कम

प्रक्षेत्र – II भूकम्पीय तीव्रता 6

प्रक्षेत्र – III भूकम्पीय तीव्रता 7

प्रक्षेत्र – IV भूकम्पीय तीव्रता 8

प्रक्षेत्र – V भूकम्पीय तीव्रता 9 या अधिक

भारतीय मानक ब्यूरो द्वारा 1984 में भारत को भूकम्पीय आधार पर 5 खण्डों में बांटा गया था। खण्ड V के क्षेत्र भूकम्प

तालिका 1.1 : भूकम्प की तीव्रता का मरकाली पैमाना

तीव्रता (संशोधित मरकाली पैमाना)	प्रघात का प्रकार	भूमि का अधिकतम त्वरण (मि. मि. प्रति सेकेण्ड	अधिकतम ज्ञात तीव्रता का समान परिमाण
I	मात्र यंत्रों द्वारा ही ज्ञात	10	
II	मंद	25	3.5 – 4.2
III	हल्का	50	
IV	सामान्य	100	4.3 – 4.8
V	थोड़ा शक्तिशाली	250	
VI	शक्तिशाली	500	4.9 – 5.4
VII	अधिक शक्तिशाली	1000	5.5 – 6.1
VIII	विनाशकारी	2500	6.2 – 6.9
IX	विनिष्टकारी	5000	
X	विध्वंसकारी	7500	7.0 – 7.3
XI	अत्यन्त विध्वंसकारी	9800	7.4 – 8.1
XII	प्रलयकारी	> 9800	> 8.1

के लिहाज से सर्वाधिक संवेदनशील माने जाते हैं वहीं खण्ड I के क्षेत्र में भूकम्प की सम्भावना सामान्यत क्षीण मानी जाती है। राजस्थान का क्षेत्र खण्ड III, II व I में था। वर्ष 2000 में भारतीय मानक ब्यूरो द्वारा नया वर्गीकरण जारी किया गया, जिसमें खण्ड I हटा दिया गया व इसमें आने वाला क्षेत्र खण्ड II में वर्गीकृत किया गया है अर्थात राजस्थान का वर्तमान में कोई भी क्षेत्र भूकम्प की दृष्टि से क्षीण नहीं माना गया है।

भारतीय मानक ब्यूरो द्वारा वर्ष 2000 के वर्गीकरण के अनुसार राजस्थान का क्षेत्र खण्ड IV, III व II में आता है। बाडमेर व सिरोही जिलों का पश्चिमी भाग तथा अलवर जिले का उत्तरी सेक्शन खण्ड IV में, बाड़मेर, सिरोही व अलवर जिलों का शेष भाग, बीकानेर, जैसलमेर, पूर्वोत्तर जिले झुंझुनूं, सीकर, भरतपुर को खण्ड III में तथा तथा प्रदेश का शेष भाग खण्ड II में पड़ता है।

ज्वालामुखी (Volcano)

भूपटल पर गहरे छिद्र या दरार जिसके माध्यम से होकर भूगर्भ की उष्ण गैसे तरल द्रव, शैल खण्ड इत्यादि सामान्यत प्रचंड विस्फोट के साथ बाहर निष्कासित होकर भूपृष्ठ पर फैल जाते है ज्वालामुखी कहलाते हैं। ज्वालामुखी उद्गार में निष्काषित पदार्थ बहुधा मुख के चारों ओर शंकुरूपी आकृति में जमा हो जाता है। इन्हें ज्वालामुखी शंकु (Volcanic Cone) कहते हैं। ये ज्वालामुखी शंकु विभिन्न आकार व प्रकार के होते हैं तथा इनमें क्रमिक अथवा अधिक ढाल होती है, ऊंचाई कुछ मीटर से लेकर कई हजार मीटर तक तथा आधार का व्यास कुछ मीटर से लेकर कई किलोमीटर तक होता है। ज्वालामुखी शंकु का ऊपरी भाग जब कालान्तर में ध्वस्त हो जाता है तो विशाल वृत्ताकार गर्त का निर्माण होता है, इसे ज्वालामुखी कुण्ड (Caldera) कहते हैं। ज्वालामुखी छिद्र या दरार के ऊपरी भाग को ज्वालामुखी विवर या ज्वालामुख (Crater) कहते हैं। ज्वालामुखी विवर का व्यास कुछ मीटर से लेकर कई किलोमीटर तक होता है। इसके मध्य भाग में एक नलिका होती है जिससे लावा, शैलखण्ड व गैसीय पदार्थ भूधरातल पर निष्कासित होते हैं, ज्वालामुखी नाल (Volcanic Pipe or Neck) कहलाती है। ज्वालामुखी की मुख्य नाल से शाखाएं निकलती हैं जो ज्वालामुखी शंकु को विभिन्न जगहों से भेदती है। इनसे भी लावा निष्कासित होता है तथा इनके मुख के पास अपेक्षाकृत छोटे विवर व शंकुओं का निर्माण हो जाता है, इन्हें गौण शंकु (Parasitic Cones) या पार्श्व ज्वालामुखी (Leteral Volcano) कहते हैं। वे सभी क्रियायें जो भूगर्भ से भूपटल की ओर प्रवाहित होने वाले लावा की गति से संबंधित होती है, ज्वालामुखी उद्‌भव (Volcanism) कहलाती है। यह प्रक्रिया दो प्रकार में वर्गीकृत है – 1. अन्तर्वेधी (Intrusive) तथा 2. बहिर्वेधी (Extrusive)

अन्तर्वेधी क्रिया में भूगर्भ का लावा भू–धरातल तक नहीं पहुंचता है, बल्कि धरातल के नीचे ही रूककर ठण्डा होकर ठोस बन जाता है। इस कारण भूपृष्ठ में महास्कंध (Bathylith), छत्रक (Lacolith), मसूर शैल (Phacolith), न्यू टुब्ज शैल (Lopolith), स्कन्ध तथा वृत्त स्कन्ध (Stocks and Bosses), लावा पट्ट (Sills) इत्यादि विभिन्न संरचनाओं का निर्माण होता है।

बर्हिर्वेधी क्रिया में भूगर्भ के पदार्थ धरातल पर बाहर निकल आते हैं और शंकुओं की रचना करते हैं। भूगर्भ से विभिन्न पदार्थों का निष्कासन ज्वालामुखीय उद्भेदन (Volcanic Eruption) कहलाता है। इस क्रिया के अन्तर्गत गरम सोतें, उष्णोंछालिका, वाष्पमुख और दरार उद्गार आते हैं।

ज्वालामुखी उद्गार तीन प्रकार के होते हैं –

1. विदरी उद्गार (Fissure Eruption)
2. केन्द्रीय उद्गार (Central Eruption)
3. निःसृत उद्गार (Effusive Eruption)

विदरी उद्गार में गर्म लावा या मेग्मा धरातल के दीर्घ विदरों से निष्कासित होता है जबकि केन्द्रीय उद्गार में तप्त लावा, शैल खण्ड व गैसीय पदार्थ इत्यादि का निष्कासन केन्द्रीय मुख से होता है। निःसृत उद्गार पृथ्वी के ठण्डे होने की द्वितीय दशा से संबंधित होता है। इसमें पृथ्वी की मोटी पपड़ी को मेग्मा (तप्त द्रवित ज्वालामुखी पदार्थ जो भूगर्भ में पृथ्वी की सतह के नीचे प्रवाहित होता है) तोड़कर बाहर नहीं निकल पाने के कारण निर्बल व दरार वाले क्षेत्रों में प्रवाहित होता है तथा इस शांत स्वभाव के उद्गार में भीषणता नहीं होती है।

दक्षिण भारत का लावा क्षेत्र तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का स्नेक नदी का प्रदेश विदरी उद्गार के तथा सिसली टापू का एटना, जापान का फ्यूजीयामा एवं इटली का विसूवियस केन्द्रीय उद्गार के और सामोआ, हवाई व आइसलैंड के ज्वालामुखी निःसृत उद्गार के उदाहरण है।

गैस की मात्रा एवं दबाव और लावा (तप्त द्रवित ज्वालामुखी पदार्थ जो भूगर्भ से विस्फोट के साथ बाहर आकर पृथ्वी की भूसतह पर प्रवाहित होता है) के गुणधर्म के आधार पर केन्द्रीय उद्गार निम्नलिखित छः प्रारूपों में होता है–

1. **हवाई प्ररूप** (Hawaiin Type) : हवाई द्वीप में इस प्रकार के प्ररूप में बिना विस्फोट के तरल लावा के उद्गार शान्त रूप से प्रवाहित होते हैं। इनका फैलाव विस्तृत होता है तथा इनमें गैस की मात्रा कम होती है ।

2. **स्ट्रोम्बोलियन प्ररूप** (Strombolian Type) : साधारण विस्फोट वाले इन उद्गारों में कम गतिशील प्रज्वलित लावा का निष्कासन एक निश्चित अन्तराल के पश्चात होता रहता है। यदाकदा इसमें विस्फोट के साथ प्रज्वलित गैस के बादल भी निकलते हैं।

3. **वल्केनियन प्ररूप** (Vulcanian Type) : विस्फोटक प्रवृति के इस उद्गार में लावा की श्यानता अधिक होने के कारण विवर में ही संपीडित हो जाती है। इस आवरण के नीचे गैसें इकट्ठी हो जाती है तथा कुछ समयावधि उपरान्त ऊपरी आवरण को फोड़कर विस्फोट के साथ उद्गार से काले–भूरे रंग के गोभी के फूल के आकार के विशाल बादल ऊँचाईयों की ओर उठते हुए दृष्टिगत होते हैं। ये प्ररूप भी आवर्ती प्रवृति के होते हैं।

4. **विसुवियस प्ररूप** (Visuvias Type) : इस प्ररूप में भी गोभी के फूल के सदृश्य प्रज्वलित गैस के विशाल बादल उठते हैं किंतु इनमें दीर्घ अवधि की निष्क्रियता अथवा अति अल्प सक्रियता के पश्चात तेज विस्फोट के साथ लावा तथा गैसों का उद्गार होता है। इसमें अधिक ज्वालामुखक्षिप्त पदार्थ में राख भी निष्कासित होती हैं।

5. **प्लिनियन प्ररूप** (Plinian Type) : यह विसुवियस प्ररूप का ही उद्गार है तथा इसमें प्रचण्ड विस्फोटन के साथ विशाल गैसों का निष्कासन गोलाकार बादलों के रूप में फैल जाता है।

6. **पीलियन प्ररूप** (Pelean Type) : सर्वाधिक प्रचण्ड विस्फोटक उद्गार वाले इस प्ररूप में लावा की श्यानता अधिक होती है अतः इस कारण ज्वालामुखी नाल को अवरूद्ध कर देती है। गैसयुक्त लावा के आघात से ज्वालामुखी शंकु के पार्श्व फट जाने से इन दरारों से प्रज्वलित गैस युक्त लावा अवघाव से समान शंकु की ढालों पर लुढ़कता है। केन्द्रीय उद्गार के छः प्रारूपों को चित्र 1.12 में दर्शाया गया है।

ज्वालामुखी तीन प्रकार के होते हैं। लगातार उद्गार वाले ज्वालामुखी क्रियाशील ज्वालामुखी (Active Volcano) कहलाते हैं। वही दूसरी ओर कई ज्वालामुखी कुछ समयावधि के अन्तराल में उद्गीर्ण होते हैं, प्रसुप्त ज्वालामुखी (Dormant Volcano) कहलाते हैं। तीसरे प्रकार के ज्वालामुखी में वर्तमान में उद्गार नहीं होता है, इन्हें निर्वापित या विलुप्त ज्वालामुखी (Extinct Volcano) कहते हैं, परन्तु यदा कदा इनसे भी अचानक उद्गार हो जाते हैं। जब ज्वालामुखी महासागर की तली में विभिन्न गहराईयों में मिलते हैं तो उन्हें समुद्री ज्वालामुखी (Submarine Volcano) कहते हैं। ज्वालामुखी उद्गार में गैसीय पदार्थ में जल वाष्पए गैसें H_2S, SO_2, HCl, CO_2, HE, H, N, O तथा बोरिक अम्ल के अलावा लोह, पोटेशियम व अन्य धातुओं के वाष्पशील क्लोराइड निकलते हैं। ज्वालामुखी का लावा इसमें उपलब्ध सिलिका की मात्रा के अनुसार अधिसिलिक (Acidic), मध्यसिलिक (Intermediate) और क्षारीय (Alkaline) होता है। ज्वालामुखी के दौरान उद्गीर्ण होने वाले ठोस पदार्थ विभिन्न आकार के होते हैं, जिन्हें बढ़ते हुए क्रम में ज्वालामुखी धूल, ज्वालामुखी सिण्डर (2.5 सेमी से कम व्यास), ज्वालामुखी अश्मक या लैपिली, ज्वालामुखी बम (2.5 सेमी से कई मीटर तक व्यास) कहते हैं, ये ज्वालामुखक्षिप्त पदार्थ (Volcanic Pyroclastic) कहलाते हैं।

पृथ्वी की गहराई में तापमान में वृद्धि होने के कारण 40 से 60 किलोमीटर की गहराई में कई हजार फैरनहाइट ताप रहने के

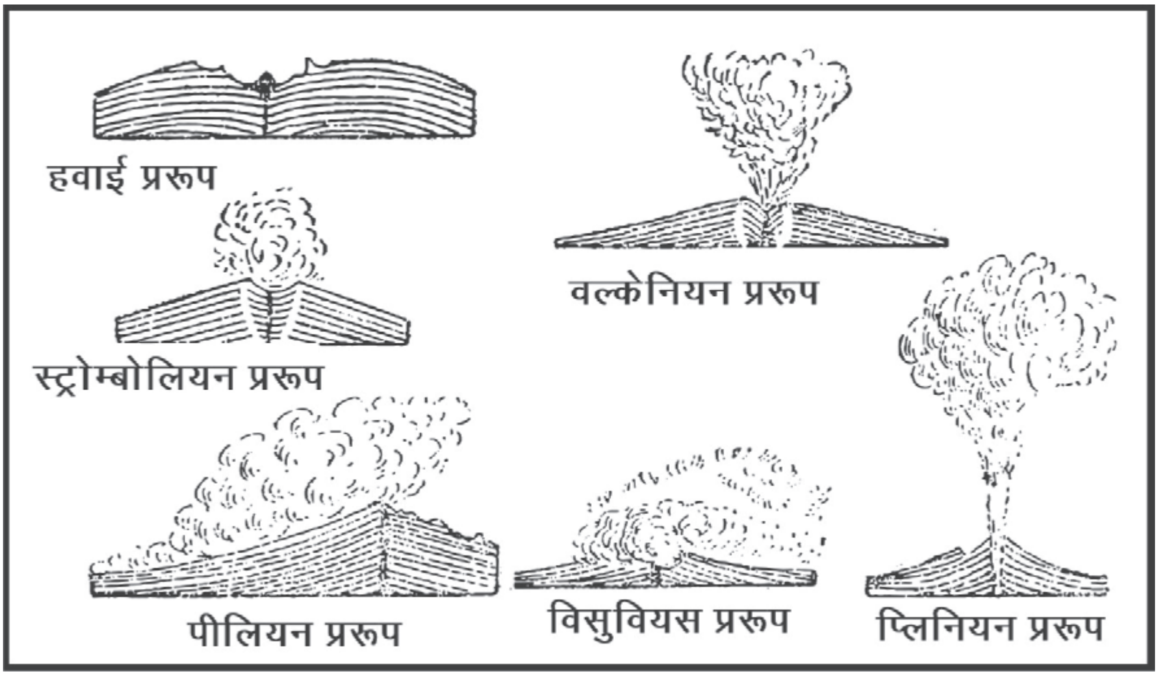

चित्र 1.12 : केन्द्रीय उद्गार के छः प्रारूपों

कारण शैल पिघली अवस्था में रहते हैं परन्तु गहराई में दाब वृद्धि के कारण इनका गलनांक भी बढ़ जाता है। पटल विरूपण के कारण इन तप्त शैलों पर दबाव कम हो जाता है व ये पिघल कर मैग्मा में बदल जाती है जो दरारों के माध्यम से भूधरातल पर लावा के रूप में प्रवाहित होते है अतः पटल विरूपण (Diastrophism) के कारण ही भूसंचलन वाले क्षेत्रों में ज्वालामुखी आते हैं। पृथ्वी की आंतरिक हलचल की बाह्य अभिव्यक्ति के रूप भूकम्प व ज्वालामुखी है अतः पृथ्वी पर जहां भूकम्प के क्षेत्र है उन्ही दो कटिबंधों यथा परिप्रशान्त कटिबंध तथा भूमध्यीय कटिबंध क्षेत्रों में ज्वालामुखियों का भौगोलिक वितरण है। ज्वालामुखी उद्गारों के कारण अपार जन–धन की हानि होती है तथा विशाल मात्रा के ज्वालामुखियों ने कई शहरों व सभ्यताओं को लील दिया है।

समस्थिति (Isostasy)

वर्ष 1889 में अमेरिकी वैज्ञानिक सी.ई. डटन ने ''समस्थिति'' शब्द का पहली बार प्रयोग किया। अंग्रेजी शब्द Isostasy की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'Isostasios' से हुई जिसका अर्थ Inequipose अर्थात ''समस्थिति'' है। सन्तुलन की वह स्थिति जो कि भपर्पटी के भिन्न–भिन्न ऊँचाईयों के विशाल भूखण्ड यथा पर्वत, पठार, मैदान तथा समुद्री तल के बीच पाई जाती है समस्थिति कहलाती है, इसमें इन भूखण्डों की आपस में संतुलित रहने की स्थिति बनी रहती है। भूगणितीय निरीक्षणों के अनुसार पर्वतीय क्षेत्रों में गुरुत्व असंगतियां सामान्यतः प्रबल ऋणात्मक तथा सागरीय क्षेत्रों में प्रबल धनात्मक होती है, अर्थात पर्वतों के नीचे औसत द्रव्यामान घनत्व कम तथा महासागरों के नीचे अधिक रहता है। वर्ष 1855 में जे.एच. प्राट तथा सी.बी. ऐरी ने स्वतंत्र रूप से हिमालय तथा भारत के अन्य भागों में साहुल रेखा निरीक्षणों को प्रकाशित किया जिनके आधार पर समस्थिति के सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ। ऐरी के अनुसार पर्वत मालाओं में विशाल मूल होते हैं जो पर्वत की ऊंचाई से कई गुना बड़ी होती है व पृथ्वी के भीतर अंदर तक फैली रहती है। सम्पूर्ण पर्वत पिण्ड अधःस्थित अधिक घनत्व वाले पिण्ड पर तैरता है। मैदान और कम ऊँचाई वाले क्षेत्रों का घनत्व अपेक्षाकृत अधिक होता है। इस तरह अधिक आयतन पर कम घनत्व वाले पर्वत पिण्ड तथा कम आयतन पर अधिक घनत्व वाले मैदानी क्षेत्रों के बीच समस्थितिक संतुलन होता है। प्राट के अनुसार भूपर्पटी के भिन्न–भिन्न भागों का घनत्व भी विभिन्न रहता है। अतः भूपर्पटी का निचला भाग अधःस्तर में एक समान गहराई तक डूबा रहता है। पर्वत प्रदेश की ऊंचाई कम घनत्व का प्रतीक है जो समुद्र तल के अधिक घनत्व वाले भाग के कारण सन्तुलित अवस्था में रहता है।

महाद्वीपीय विस्थापन (Continental Drift)

पृथ्वी की प्रमुख स्थलाकृतियाँ महाद्वीप तथा महासागर है, पृथ्वी की कुल सतह का तीन–चौथाई भाग महासागरों से घिरा हुआ है व शेष एक चौथाई भाग में महाद्वीपों का फैलाव मिलता है। महाद्वीप सदैव थल के भाग व महासागर हमेशा जल के भाग ही रहे हैं परन्तु भूपटलीय हलचलों के कारण महाद्वीपों के तटीय भागों का सामयिक रूप से निमज्जन या निर्गमन अवश्य होता रहा है। भूपर्पटी की संरचना में को देखने से प्रतीत होता है कि महाद्वीपीय सिएल (SiAl) खण्डों के अधःस्थित सिमै (SiMa) में

विस्थापन संभव है। भूपर्पटी के आंतरिक बलों की वजह से इन भूखण्डों का क्षैतिज तल में विस्थापन असंभव प्रतीत नहीं होता है। अमेरिका के एफ.बी. टेलर (1908) एवं जर्मनी के अल्फ्रेड वेगनर (1910) महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धांत के जनक माने जाते हैं।

टेलर का महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धांत

टेलर ने अपने सिद्धांत में महाद्वीपों के विस्थापन को ही पृथ्वी की प्रमुख पर्वत मालाओं के वितरण का प्रमुख कारण बताया। टेलर की परिकल्पना अनुसार प्रारम्भ में उत्तरी गोलार्द्ध में लारेंशिया तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में गोंडवाना नामक दो विशाल भूखण्ड मुख्यतः ध्रुवों के पास स्थित थे तथा इन दोनों के मध्य एक संकरा व विशाल महासागर स्थित था। ज्वारीय बलों के कारण दोनों भूखण्डों के विघटित भाग भूमध्य रेखा की ओर विस्थापित हुए जिसके फलस्वरूप अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागर का निर्माण हुआ। महाखण्डों के विभिन्न भागों की विषुवतीय गति के कारण उनके अग्रभाग में जहाँ पर सबसे कम प्रतिरोध था, पर्वत मालाओं की उत्पत्ति हुई। टेलर के सिद्धांत में पृथ्वी को प्रारम्भ में चन्द्र विहिन माना गया। क्रिटेशस युग में पृथ्वी के टूटे हुए भाग से चन्द्रमा की उत्पत्ति होना माना गया। सूर्य व चन्द्रमा के आकर्षण के फलस्वरूप ही विशाल ज्वारीय बलों की उत्पत्ति मानी गई, जिसके कारण पृथ्वी का घूर्णन वेग प्रभावित होता है। दोनों महाखण्डों के विभिन्न भाग विषुवत रेखा की ओर विस्थापित होने के कारण इनके अग्र भागों में पर्वत मालओं की उत्पत्ति हुई।

पर्वत मालाओं के निर्माण के लिए यथेष्ट 30–70 किलोमीटर से अधिक मात्रा में हजारों किलोमीटर का विस्थापन पृथ्वी के प्रारम्भ में चन्द्रविहिन होने व ज्वारीय बलों से महाखण्डों के विस्थापन व पृथ्वी के घूर्णनकाल काल को प्रभावित करने की धारणाएं सही साबित नहीं होने के कारण टेलर का सिद्धांत अधिक प्रचलन में नहीं रहा।

वेगनर का महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धांत

वेगनर ने अपने सिद्धांत में पुराजीवी महाकल्प में अत्यन्त विशाल सिएल (SiAl) भूखण्ड ''पेन्जिया'' (Pangaea) की परिकल्पना की। पेन्जिया का ग्रीक भाषा में अर्थ सम्पूर्ण पृथ्वी है। पेन्जिया के चारों ओर फैला विस्तृत महासागर ''पैंथालसा'' (Penthalassa) था। सिलूरियन कल्प में आन्तरिक बलों के कारण पेन्जिया में विराट दरारें पड़ना शुरू हुई इससे विशाल भूखण्ड दो भागों में विभक्त हो गया। विभाजन से उत्तर में लॉरेंशिया तथा दक्षिण में गोंडवाना महाखण्ड अस्तित्व में आये तथा इन दोनों सरकते महाखण्डों के मध्य में टेथिस महासागर का निर्माण हुआ। कालान्तर में इन महाखण्डों के अधिक टुकड़े हुए तथा क्रमशः विस्थापन के फलस्वरूप वर्तमान महाद्वीपों का निर्माण हुआ। वेगनर के अनुसार इन भ्रमणशील महाद्वीपों की दो प्रकार की गतियां थी। ये गतियां ध्रुवों से प्रारंभ हुई तथा एक विषुवतीय गति व दूसरी पश्चिमवर्ती गति थी।

वेगनर ने महाद्वीपों के ध्रुवों से विस्थापित होने को ध्रुवों से गमन (Polflutcht) बताया। वेगनर ने महाद्वीपीय विस्थापन की क्रियाविधि में अफ्रीका को स्थिर मानकर अन्य महाद्वीपों के विस्थापन का उल्लेख किया। क्रिटेशस कल्प के प्रारम्भ में अमेरिका महाद्वीप का पश्चिमवर्ती विस्थापन शुरू हुआ। मध्य जुरैसिक में आस्ट्रेलिया तथा अण्टार्कटिका महाद्वीप अलग हुए तथा आस्ट्रेलिया व मलागासी, अफ्रीका से दक्षिण–पूर्व की ओर विस्थापित हुए। आदि नूतन युग (Eocene) में भारत का विस्थापन हुआ तथा उत्तर अमेरिका व यूरोप एक दूसरे से अत्यन्त नूतन युग (Pleistocene) में अलग हुए। महाद्वीपों के विस्थापन का क्रम आज भी क्रियाशील माना जाता है तथा विस्थापन की गति सदैव परिवर्तनशील रही है। पृथ्वी के आन्तरिक ताप के कारण उत्पन्न आन्तरिक बल इस विस्थापन की क्रिया को नियंत्रित करते हैं, अतः पर्वतन व विस्थापन में घनिष्ट संबंध माना जाता है तथा पर्वतन व विस्थापन की तीव्रता को भी समकालीन माना गया है। पृथ्वी के आन्तरिक भागों में उत्पन्न संवहन धाराओं को ही विस्थापन की क्रिया का प्रमुख कारण आज माना जाता है।

महाद्वीपों की विषुवतीय गति के फलस्वरूप आल्प्स और हिमालय पर्वत श्रृंखलाओं की उत्पत्ति हुई। पश्चिमवर्ती गति के कारण रॉकी एवं एण्डीज पर्वत श्रेणियों की उत्पत्ति हुई। प्रशांत महासागर को आद्यमहासागर माना गया है अतः विस्थापन के समय यह अपरिवर्तित रहा। उत्तर अमेरिका और दक्षिण अमेरिका तथा अफ्रीका व यूरोप के विस्थापन से अटलाण्टिक महासागरों का निर्माण हुआ तथा अण्टार्कटिका, आस्ट्रेलिया व भारत–अफ्रीका

चित्र 1.13 : समुद्री तटों में समरूपता

के अलग होने से हिन्द महासागर निर्मित हुआ, वहीं भारत के अफ्रीका से अलग होने के कारण अरब सागर अस्तित्व में आया। महाद्वीपीय विस्थापन के सिद्धांत से पृथ्वी की अनेक प्रक्रियाओं का समाधान हुआ अतः यह सिद्धांत प्रमाणित हुआ।

महाद्वीपीय विस्थापन के प्रमाण के रूप में वेगनर ने अफ्रीका व दक्षिण अमेरिका के समुद्री तटों की समरूपता (चित्र 1.13), महासागरों की असमानता, महाद्वीपों की भूवैज्ञानिक समरूपता तथा इन पर पाये जाने वाले जीवाश्मों की समरूपता, विभिन्न महाद्वीपों की पुरा–जलवायु सम्बन्धी एकरूपता, महाद्वीपीय विस्थापन के पुराचुम्बकत्व सम्बन्धी प्रमाणों को महाद्वीपीय सिद्धांत का आधार बनाया। वेगनर के महाद्वीपीय विस्थापन के सिद्धांत को चित्र 1.14 में दर्शाया गया है।

प्लेट विवर्तनिकी (Plate Tectonics)

भूकम्पी तरंगो के अध्ययन एवं विश्लेषण से प्राप्त तथ्यों की मदद से प्लेट विवर्तनिकी सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ, इसके द्वारा भूवैज्ञानिक प्रक्रमों की पुष्टि के साथ पृथ्वी के पृष्ठीय–लक्षण, विवर्तनिक प्रक्रियाओं तथा भूपर्पटी के विकास से जुड़े जटिल सवालों के उचित हल मिलते है। भूविज्ञान के क्षेत्र में महाद्वीपीय विस्थापन (Continental Drift) तथा सागर तल विस्तार (Sea Floor Spreading) में संबंध स्थापित हो जाने से प्लेट विवर्तनिकी की क्रांतिकारी अवधारणा ने जन्म लिया। प्लेट विवर्तनिकी पृथ्वी के बाहरी स्थलमंडल का प्रतिरूप है। यह कई बड़ी–बड़ी प्लेटों से लक्षित है जो महाद्वीपीय व सागरीय भूपर्पटी से निर्मित है। समुद्र तल विस्तार सिद्धांत के अनुसार ये प्लेटे सतत् रूप से आपेक्षिक गतिशीलता प्रदर्शित करती है तथा इनके बीच भूकंपीय परिसीमा क्षेत्र निर्मित होते हैं। प्लेटें पृथ्वी के बाह्य भाग (भूपर्पटी तथा प्रावार का ऊपरी भाग) के दृढ खण्डों से निर्मित होती है, जिसकी मोटाई 100–150 किलोमीटर तक होती है। ये प्लेटें स्थलमण्डल (Lithosphere) में मन्द गति से ऊपर फिसलती है। प्लेटें एक–दूसरे के सापेक्ष लगातार गतिशील रहती है। डब्ल्यू.जे. मारगन ने छः बड़ी प्लेटे यथा पैसेफिक, अमेरिकन, अफ्रीकन, यूरेशियन, इण्डियन तथा अण्टार्कटिका प्लेटे बताई। इन छः प्लेटों के अलावा कालान्तर में शोधकर्ताओं ने 12–20 प्लेटों की जानकारी दी (चित्र 1.15)। इन प्लेटों के संचलन की गति 1 से 6 सेन्टीमीटर प्रतिवर्ष तक होती है तथा सामान्यतः भूकम्पीयता, ज्वालामुखीयता एवं विवर्तनिकी गतिविधियां इन्हीं प्लेटों के किनारों के आस–पास पाई जाती हैं। प्लेटों के संचलन के लिए पृथ्वी की गहराई में उठने वाली तापीय संवहन तरंगो, नवनिर्मित महासागरीय पर्पटी के निर्माण प्रक्रिया तथा कटक एवं खाई के बीच गुरुत्वीय अंतर जैसे कारकों को जिम्मेवार माना गया है।

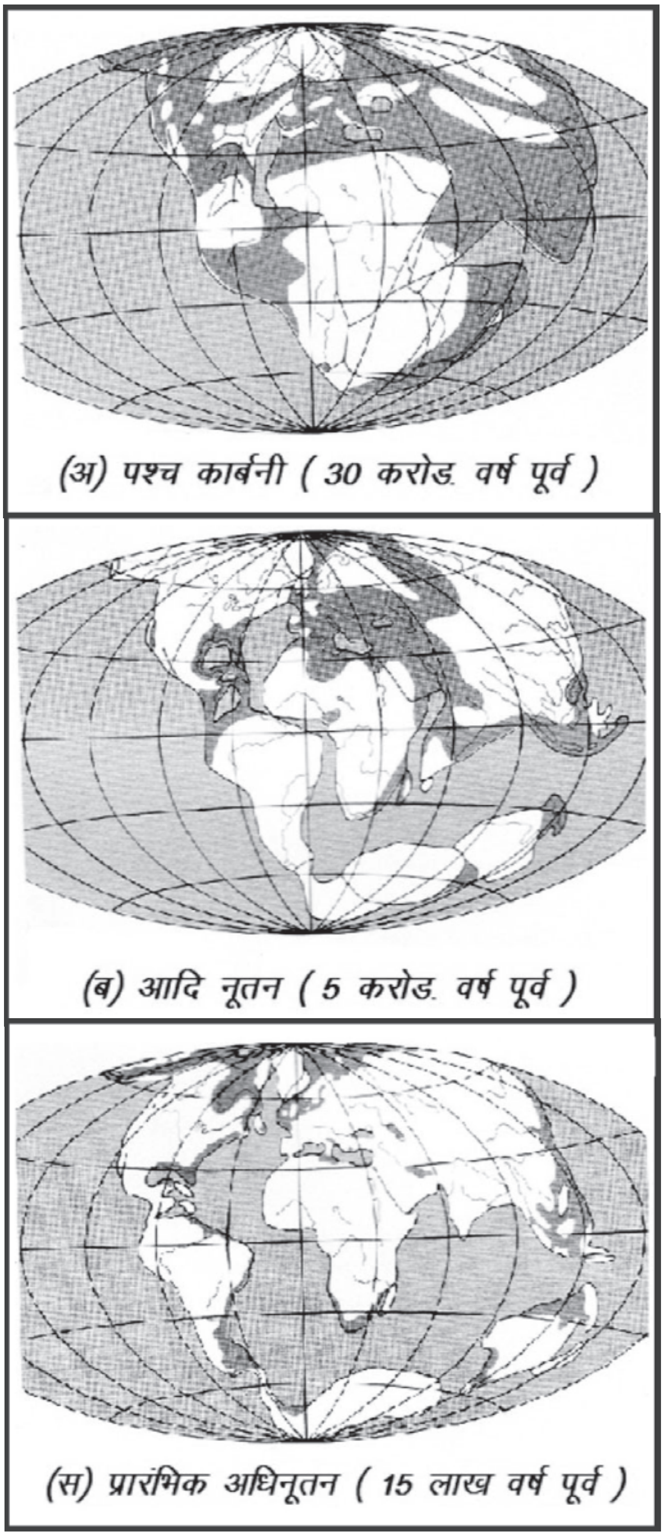

(अ) पश्च कार्बनी (30 करोड़ वर्ष पूर्व)

(ब) आदि नूतन (5 करोड़ वर्ष पूर्व)

(स) प्रारंभिक अधिनूतन (15 लाख वर्ष पूर्व)

चित्र 1.14 : अल्फ्रेड वेगनर का महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धांत

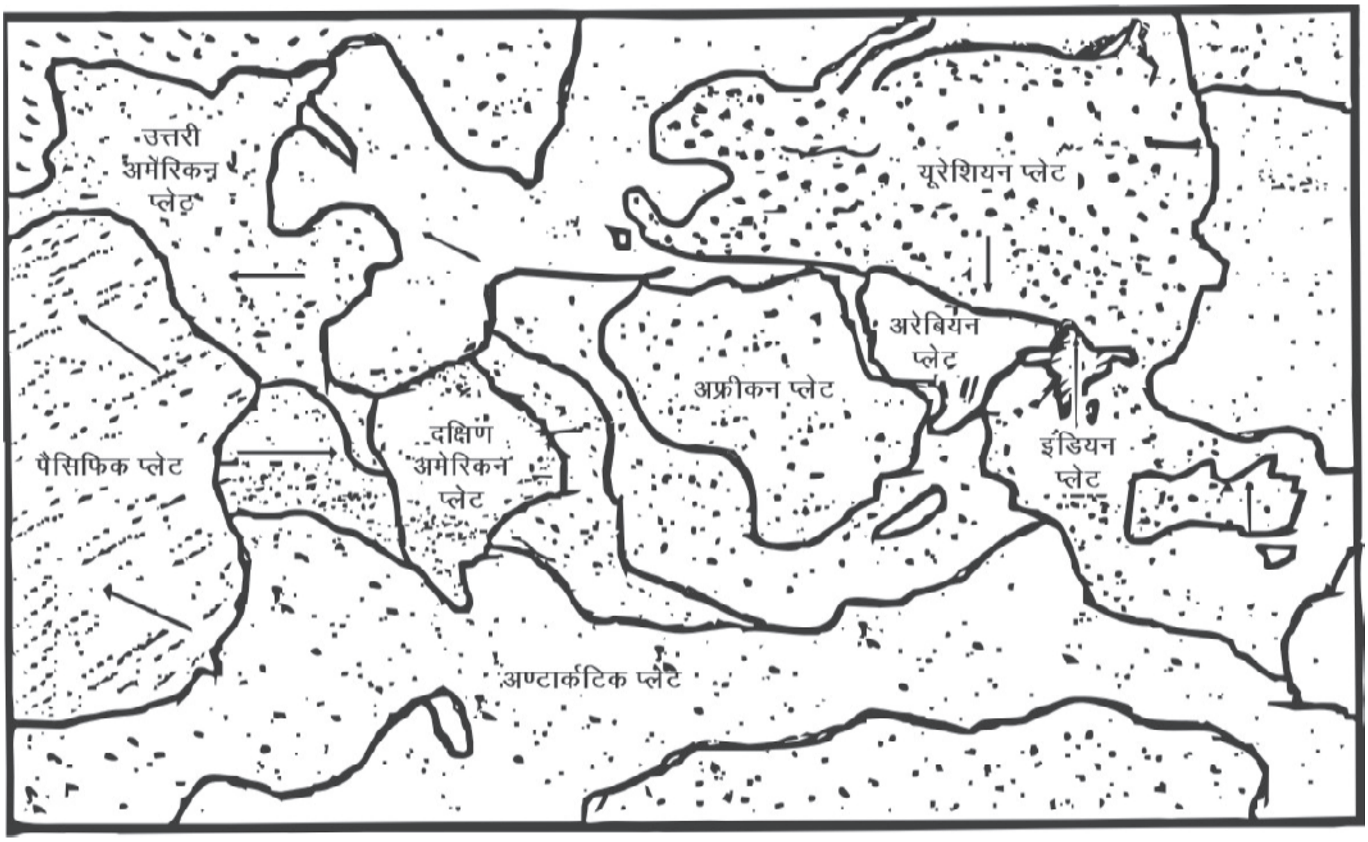

चित्र 1.15 : मुख्य प्लेटें तथा इनकी संचलन की दिशा

प्लेट किनारे या प्लेट सीमायें निम्न तीन प्रकार की होती हैं–

1. रचनात्मक प्लेट किनारा (Constructive Plate Margin) या अपसारी प्लेट सीमायें (Divergent Plate Boundaries)
2. विनाशात्मक प्लेट किनारा (Destructive Plate Margin) या अभिसारी प्लेट सीमायें (Convergent Plate Boundaries)
3. संरक्षी प्लेट किनारा (Conservative Plate Margin) या पारवर्ती प्लेट सीमायें (Transcurrent Plate Boundaries)

1. **रचनात्मक प्लेट किनारा :** इसमें दो प्लेटों के एक–दूसरे से विपरीत दिशा में संचलन होने के फलस्वरूप विदरों का निर्माण होता है। प्लेट किनारों के सहारे पृथ्वी की गहराई में उपस्थित मैग्मा ऊपर की ओर आता है तथा नई भूपर्पटी का निर्माण करता है, यह प्रक्रिया सामान्यतः मध्य महासागरीय कटकों (Mid Oceanic Ridge) के निकट होती है। महासागरीय अपसरण (Oceanic Divergence) की यह प्रक्रिया ही महासागर तट प्रसारण (Oceanic Floor Spreading) कहलाती है। रचनात्मक किनारों पर ही ज्वालामुखी दिखाई पड़ते हैं जिनसे मध्य महासागरीय कटकों का निर्माण होता है। प्लेटों के महाद्वीपीय अपसरण (Continental Divergence) में प्रारंभिक अवस्था में प्लेट के नीचे उपस्थित शैल पदार्थ प्रावार से महाद्वीपीय प्लेट की ओर नीचे से ऊपर उठता है जिस कारण एक स्तम्भ (Column) का निर्माण होता है जिसे प्रावार पिच्छ (Mantle Plume) कहते हैं। इसके साथ भूपर्पटी पतला होने लगती है तथा कार्यरत तनाव बल के कारण प्लेट में दरार बनने के साथ ही रिफ्ट घाटी (Rift Valley) का निर्माण होता है। धीमी गति वाली इस प्रक्रिया में कालान्तर में प्लेट के एक स्थान में घाटी चौड़ी होती है तथा दूसरे स्थान में महासागरीय कटकों (Mid Oceanic Ridges) का निर्माण होता है।

2. **विनाशात्मक प्लेट किनारा :** इसमें दो प्लेटें एक दूसरे की ओर सरकती हुई टकराती है व एक प्लेट दूसरी प्लेट के नीचे की ओर सरकती जाती है। प्लेटों के महासागरीय-महासागरीय पर्पटी के अभिसरण (Ocean-Ocean convergence) होने पर एक प्लेट दूसरी प्लेट के नीचे घुसकर मुड़ जाती है, यह प्रक्रिया क्षेपण (Subduction) कहलाती है तथा इस कारण निर्मित क्षेत्र क्षेपण क्षेत्र (Subduction Zone) कहलाता है। इसे बेनी ऑफ जोन (Benihoff zone) भी कहते हैं, इसके परिणामस्वरूप गहरी खाईयाँ (Trenches) निर्मित होती है। महासागरीय पर्पटी–महाद्वीपीय पर्पटी के अभिसरण (Ocean crust-Continental crust convergence) के विघटन क्षेत्र में ज्वालामुखी चाप का निर्माण होता है। इस प्रक्रिया में युवा पर्वत श्रेणियों का भी निर्माण

होता है। महाद्वीपीय–महाद्वीपीय पर्पटी के अभिसरण (Continent-continent convergence) में एक महाद्वीपीय पर्पटी का दूसरे महाद्वीपीय पर्पटी के नीचे क्षेपण (Under thrusting) होने के परिणामस्वरूप हिमालय, आल्प्स, एण्डीज तथा रॉकी पर्वत श्रेणियों का निर्माण हुआ। इन्हीं प्लेटों के किनारे पर सर्वाधिक भूकम्प आते है।

3. **संरक्षी प्लेट किनारा :** इसमें दो प्लेटें एक दूसरे के सहारे अगल–बगल में रगड़ती हुई संचरण करती है तथा इस कारण पारवर्ती भ्रंश या रूपांतरण भ्रंश (Transcurrent fault or Transform fault) के साथ नए पदार्थ का निर्माण होता है।

उपरोक्त तीनों प्लेट किनारों के संचलन से प्लेट विर्वतनिकी का सिद्धांत विविध भूवैज्ञानिक प्रक्रमों को समझाने में मददगार साबित हुआ है।

संरचनात्मक भूविज्ञान (Structural Geology)

कक्षा 11 में नति, नतिलम्ब इत्यादि के बारे में वर्णन किया जा चुका है, शेष संरचनात्मक भूविज्ञान के महत्वपूर्ण घटकों के बारे में निम्न जानकारी दी जा रही है।

वलन (Fold)

भूपर्पटी के शैल संस्तरों पर जब दो विरूद्ध दिशाओं से प्रतिबल कार्यरत होता है तब इनमें तरंगित संरचनाओं का निर्माण होता है, इन्हें वलन (Fold) कहते हैं। वलन का एक भाग उत्तल तथा दूसरा भाग अवतल रहता है। उत्तल भाग के शीर्ष स्थल को वलन का शीर्ष (Crest) तथा अवतल भाग के आधार स्थल को वलन की द्रोणिका (Trough) कहते हैं। वलन के शीर्ष से द्रोणी तक के पार्श्व भाग को वलन पाद (Limb of Fold) कहते हैं। वलन के दोनों पादों (Limbs) को दो बराबर भागों में विभक्त करने वाले काल्पनिक तल को अक्षीय तल (Axial Plane) कहते हैं। वलन के अक्षीय तल तथा संस्तर (Bed) के प्रतिच्छेदन (Intersection) को वलन अक्ष (Fold Axis) कहते हैं। वलन का वह भाग जो कि संस्तरों के उत्संवलन (Upwarping) के कारण निर्मित होता है, अपनति (Anticline) कहलाता है, यह ऊपर की ओर उत्तल होता है तथा इसमें दोनों पादों की नति (Dip) एक दूसरे से विपरीत दिशा में होती है। अपनति के क्रोड में सबसे पुराने संस्तर मिलते हैं और उससे दूर क्रमशः नवीन संस्तर पाये जाते है। इसके विपरीत वलन का वह भाग जो संस्तरों के अवसंवलन (Downwarping) के कारण बनता है, अभिनति (Syncline) कहलाता है, यह ऊपर की ओर अवतल होता है तथा इसमें दोनों पादों की नति एक दूसरे की ओर होती है। अभिनति के क्रोड में सबसे नवीन संस्तर पाये जाते हैं तथा ओर दूर जाने पर क्रमशः प्राचीन संस्तर मिलते हैं। वलन के विभिन्न भागों को चित्र 1.16 में दर्शित किया गया है।

वलन के पाद की नति, वलन अक्ष की स्थिति तथा वलन के पादों की मोटाई के आधार पर वलनों का वर्गीकरण किया जाता है। विभिन्न प्रकार के वलनों का वर्णन निम्नानुसार है–

1. **सममित वलन** (Symmetrical Fold) : इस प्रकार के वलन में दोनों पादों की नति एक समान होती है तथा इन वलनों को यदि अक्षीय तल से काटा जाए तो दोनों भाग बराबर होते हैं।
2. **असममित वलन** (Asymmetrical Fold) : इन वलनों में दोनों पादों में नति की मात्रा एक समान नहीं होती है तथा

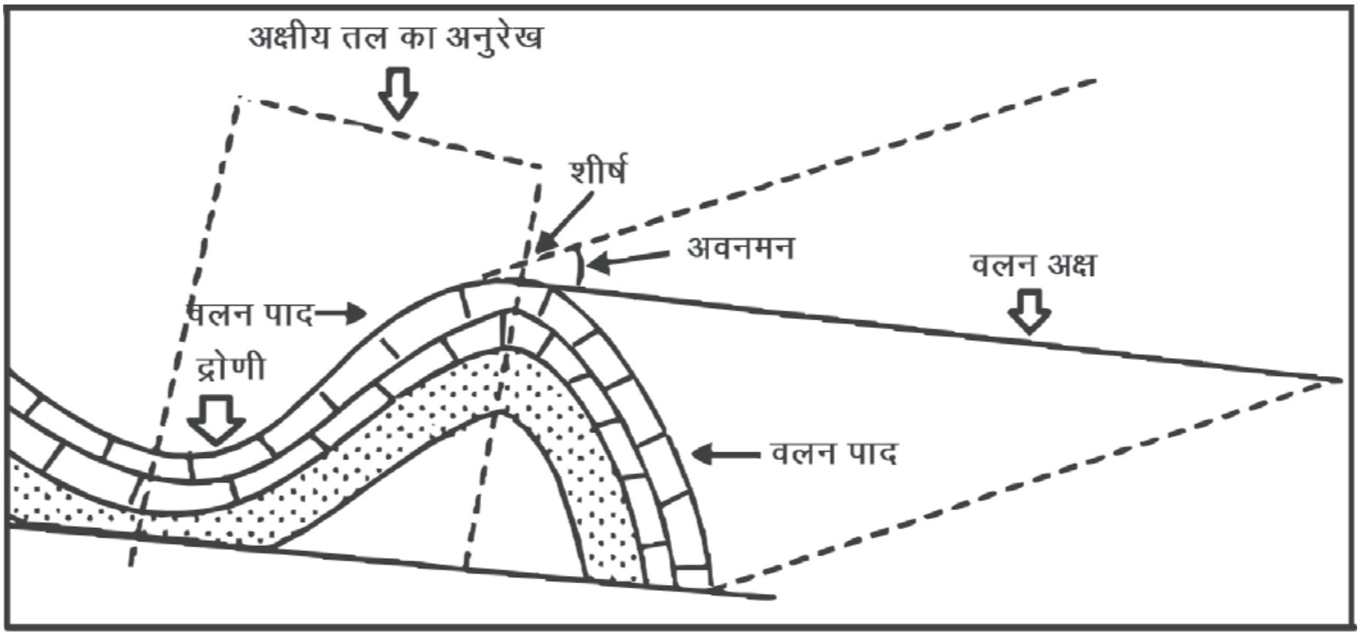

चित्र 1.16 : वलन के विभिन्न भाग

अक्षीय तल से काटने पर ये वलन दो असमान भागों में बंटता है।

3. **समनत वलन** (Isoclinal Fold) : ऐसे वलनों के दोनों पादों की नति एक समान होती है। यदि वलन अक्ष व वलन के दोनों पाद ऊर्ध्वाधर हो तो इन्हें ऊर्ध्वाधर समनत वलन (Vertical Isoclinal Fold) कहते हैं। यदि वलन अक्ष और वलन के दोनों पाद आनत हो तो इन्हें आनत समनत वलन (Inclined Isoclinal Fold) कहते हैं।

4. **प्रतिवलित वलन** (Overturned Fold) : ऐसे वलन जिसमें अक्षीय तल के अत्याधिक झुकाव के कारण वलन के दोनों पादों की नति एक ही दिशा में हो जाती है, प्रतिवलित वलन कहलाते हैं।

5. **श्यान वलन** (Recumbent Fold) : जब वलन की तीव्रता इतनी अधिक हो जाती है कि वलन के पाद प्रतिवलित होकर क्षैतिज अवस्था में आ जाते हैं तथा वलन का अक्षीय तल भी क्षैतिज होता है, श्यान वलन कहलाता है। इस प्रकार के वलनों में शैल संस्तरों का अध्यासन क्रम (Order of Superposition) बदल जाता है।

6. **नैपे** (Nappe) : संस्तरों में प्रतिवलन निर्मित होने के उपरान्त भी यदि प्रतिबल क्रियाशील रहता है तो संस्तरों में विभंग निर्मित हो जाते हैं, तत्पश्चात भी प्रतिबल की क्रियाशीलता पर विभंग तलों से संस्तर पृथक होकर बहुत दूर तक विस्थापित हो जाते हैं, यह सरंचना नैपे कहलाती है।

7. **संवृत वलन** (Closed Fold) : जब संस्तर गतिशील होते है तथा प्रतिबलों की क्रियाशीलता के कारण संस्तर खिसक जाते हैं और वलन शीर्ष व द्रोणी वाले क्षेत्रों में पाद मोटे हो जाते हैं तथा बीच में पतले रहते हैं, ऐसे वलन संवृत वलन कहलाते हैं।

8. **विवृत वलन** (Open Fold) : वलन के शीर्ष व द्रोणी तथा सभी स्थानों पर यदि पादों की मोटाई एक समान हो तो इन्हें विवृत वलन कहते हैं।

9. **कोणीय वलन** (Chevron Fold) : वलन जिनके अक्षीय तल कोणीय होते है तथा दोनों पाद तीक्ष्ण कोण पर आपस में मिलते है, कोणीय वलन कहलाते हैं।

10. **पंखा वलन** (Fan Fold) : प्रतिबलों की तीव्रता के फलस्वरूप वलन के दोनों पाद प्रतिवलित होकर एक–दूसरे के करीब आ जाते हैं इस कारण इनके अपनति पाद की नति एक दूसरे की ओर तथा अभिनति पाद की नति एक दूसरे के विरूद्ध दिशा में हो जाती है तो ऐसे वलनों को पंखा वलन कहते हैं। इस प्रकार के वलनों में संस्तर का अध्यासन क्रम उलट जाता है।

11. **कर्षज वलन** (Drag Fold) : दो समर्थ संस्तरों (Competent Beds) के मध्य एक असमर्थ संस्तर (Incompetent beds) होने पर तथा इस स्थिति में असमर्थ संस्तर के दोनो ओर से विरूद्ध दिशाओं में प्रतिबल क्रियाशील होने पर असमर्थ संस्तर में छोटे–छोटे वलनों का निर्माण हो जाता है इन्हें कर्षज वलन कहते हैं। इनका निर्माण संस्तरों पर कर्षज प्रवाह के कारण उक्त परिस्थितियों में बड़े आकार के वलनों में होता है।

12. **एकनतिक वलन** (Monocline Fold) : क्षैतिज अथवा कम नति वाले संस्तरों की नति जब एक पाद में एकदम से अधिक हो जाती है तथा इस कारण संस्तरों का यह भाग अधिक ऊंचाई में स्थित रहता है तो ऐसे निर्मित वलनों को एकनतिक वलन कहते हैं। ये अभिनति अथवा अपनति के पाद का एक भाग होता है तथा ऐसे वलन में संस्तरों की एक ही दिशा में नति होती है।

13. **अवनमित वलन** (Plunging Fold) : वलन के अक्षीय तल का क्षैतिज तल से झुकाव को वलन का अवनमन (Plunge of the fold) कहते हैं तथा अवनमन युक्त वलन को अवनमित वलन कहते हैं।

14. **अतितनुवलन** (Supratenuous Fold) : अवसादन (Sedimentation) क्रिया के साथ में वलन निर्माण के दौरान अपनति की शीर्ष व अभिनति की द्रोणी पर संस्तरों की मोटाई क्रमशः कम व अधिक हो जाती है, क्योंकि शीर्ष पर कम और द्रोणी पर अधिक अवसादन होता है, ऐसे वलन अतितनुवलन कहलाते हैं।

15. **गुम्बद तथा द्रोणी** (Dome and Basin) : इनकी आकृतियां गोल या अंडाकार होती है। गुम्बद अपनति के समान होता है व इसमें संस्तरों की नति की दिशा अंदर से बाहर की ओर होती है। अलग–अलग दिशाओं में गमन करने वाली दो अपनतियों के मिलने से गुम्बद का निर्माण होता है। इसके विपरीत द्रोणी अभिनति के समान होती है, इसमें संस्तरों की नति की दिशा बाहर से अंदर की ओर रहती है। अलग–अलग दिशाओं में गमन करने वाले दो अभिनतियों के मिलने से द्रोणी का निर्माण होता है।

विभिन्न प्रकार के वलनों को चित्र 1.17 में दर्शाया गया है।

भ्रंश (Fault)

संस्तरों का विभंग पर हुए विस्थापन (Displacement) को भ्रंश (Fault) कहते हैं तथा यह प्रक्रिया भ्रंशन (Faulting) कहलाती है। संस्तर तल (Bedding Plane) पर दो विभिन्न दिशाओं से प्रतिबल लगता है तब विभंग तल पर संस्तर विस्थापित हो जाते है तथा शैलों में भ्रंश निर्मित होते हैं। भ्रंश से संबंधित महत्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

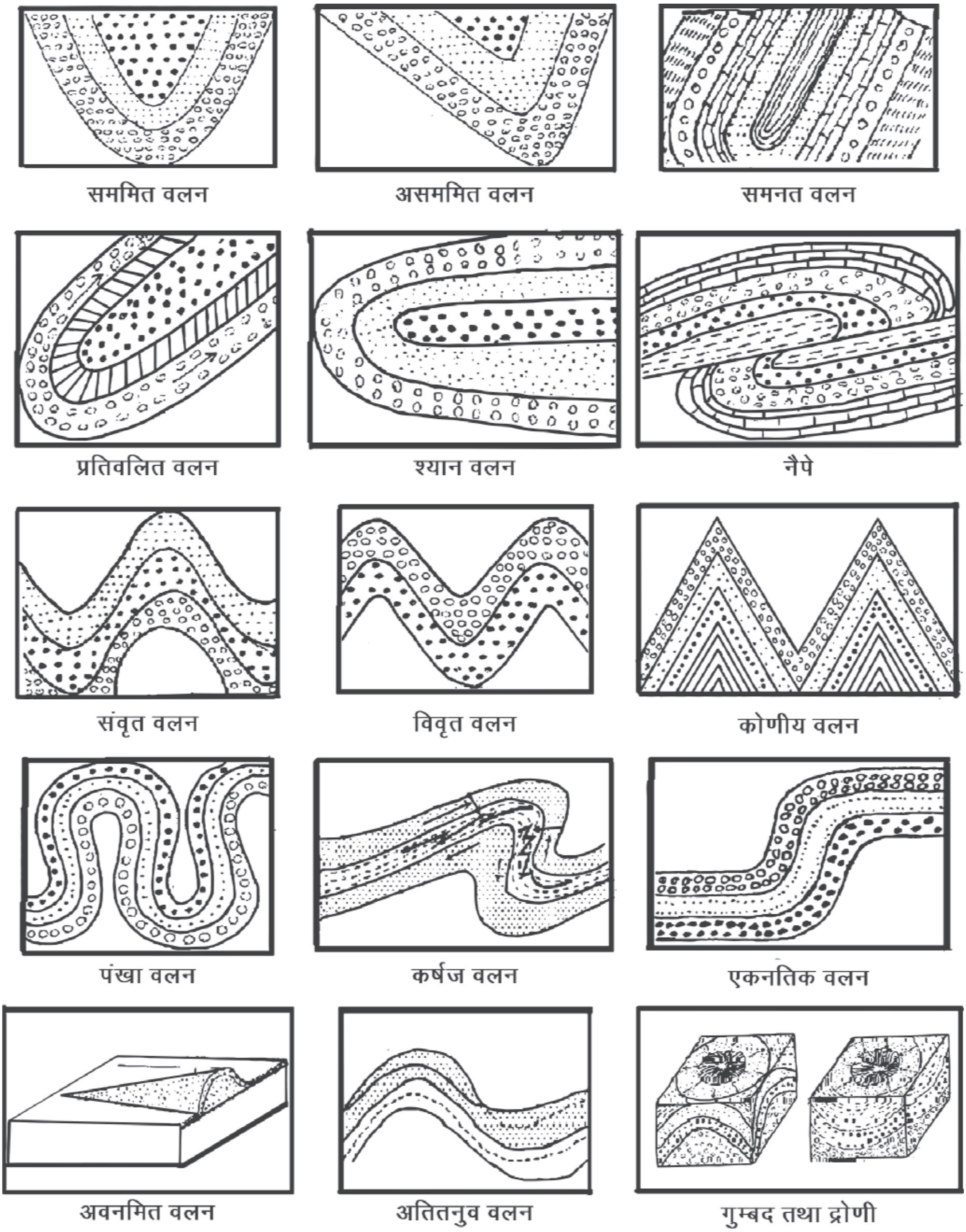

चित्र 1.17 : वलनों के विभिन्न प्रकार

1. **भ्रंश तल** (Fault Plane) : जिस तल पर संस्तरों का विस्थापन होता है वह तल भ्रंश तल कहलाता है।
2. **आधार भित्ति** (Foot Wall) : भ्रंशन के कारण शैल खण्ड विस्थापित हो जाते है। वह शैल खंड जो कि भ्रंशतल के नीचे स्थित रहती है, आधार भित्ति कहलाती है।
3. **ऊपरि भित्ति** (Hanging Wall) : वह शैलखंड जो कि भ्रंश तल के उपर स्थित रहती है, ऊपरि भित्ति कहलाती है।
4. **भ्रंश का उन्नमन** (Hade of a Fault) : ऊर्ध्वाधर तल (Vertical Plane) तथा भ्रंश तल के बीच के कोण को भ्रंश का उन्नमन कहते हैं।
5. **अवपात पार्श्व** (Downthrow Side) : भ्रंश का वह पार्श्व जहाँ कि संस्तर भ्रंश तल के दूसरे पार्श्व में स्थित संस्तरों की तुलना में अधिक विस्थापित हो जाते हैं, अवपात पार्श्व कहलाता है। विस्थापन के फलस्वरूप नवीन संस्तर (Younger Bed) प्राचीन संस्तरों (Older Beds) के सम्पर्क में आ जाते हैं।
6. **भ्रंशपात** (Throw of a Fault) : भ्रंशन के कारण संस्तरों के ऊर्ध्वाधर विस्थापन को भ्रंशपात कहते हैं।
7. **भ्रंश का अनुप्रस्थ विस्थापन – हीव** (Heave of a Fault) : भ्रंशन के कारण संस्तरों के क्षैतिज विस्थापन को भ्रंश का अनुप्रस्थ विस्थापन "हीव" कहते हैं।
8. **भ्रंश की नति** (Dip of a Fault) : क्षैतिज तल (Horizontal plane) तथा भ्रंश तल (Fault plane) के बीच के कोण को भ्रंश की नति कहते हैं।
9. **भ्रंश का नतिलम्ब** (Strike of a Fault) : भ्रंश की नति की दिशा के लम्बरूप वह काल्पनिक रेखा जो कि भ्रंशतल के एक ही ऊँचाई वाले बिन्दुओं को मिलाती है, भ्रंश का नतिलम्ब कहलाती है। भ्रंशतल तथा क्षैतिज तल की प्रतिच्छेदन रेखा को ही भ्रंश का नतिलम्ब कहते है।
10. **भ्रंश अनुरेख या भ्रंश दृश्यांश या भ्रंश रेखा** (Fault trace or Fault outcrop or Fault line) : भ्रंश तल और भूमि तल के प्रतिच्छेदन को भ्रंश अनुरेख या भ्रंश दृश्यांश या भ्रंश रेखा कहते हैं।
11. **भ्रंश का सर्पण** (Slip of a fault) : भ्रंशतल पर संस्तरों के विस्थापन की दूरी को भ्रंश का सर्पण कहते हैं। भ्रंश के अधिकतम सर्पण को नेट सर्पण (Net Slip) कहते हैं। भ्रंश के नति की तथा नतिलम्ब की दिशा में हुए विस्थापन को क्रमशः नति सर्पण (Dip Slip) तथा नतिलम्ब सर्पण (Strike Slip) कहते हैं।

भ्रंश के विभिन्न भागों को चित्र 1.18 में दर्शाया गया है।

भ्रंशों का वर्गीकरण (Classification of Faults)

विभिन्न आधारों पर भ्रंशों को निम्नानुसार वर्गीकरण किया गया है–

1. भ्रंश की नति की मात्रा के आधार पर : भ्रंश की नति की मात्रा के आधार पर निम्न प्रकार के भ्रंश वर्गीकृत किये गये हैं–

अ. **उच्च कोण नति भ्रंश** (High angle dip fault) : भ्रंश जिनकी नति 45° से अधिक होती है, उच्च कोण नति भ्रंश कहलाते हैं, ये भ्रंश सामान्य भ्रंश (Normal Fault) होते हैं।

ब. **निम्न कोण नति भ्रंश** (Low angle dip fault) : – भ्रंश जिनकी नति 45° से कम होती है, निम्न कोण नति भ्रंश कहलाते हैं, ये भ्रंश क्षेप भ्रंश (Thrust Fault) होते हैं।

2. भ्रंश खण्ड के संचलन के आधार पर : भ्रंश खण्ड के संचलन के आधार पर अर्थात भ्रंशों के ऊपरिभित्ति या आधारभित्ति के ऊपर अथवा नीचे विस्थापन होने के आधार पर निम्न प्रकार के भ्रंश वर्गीकृत किये गये हैं–

अ. **सामान्य भ्रंश** (Normal Fault) : भ्रंश जिनमें ऊपरिभित्ति, आधारभित्ति की तुलना में नीचे विस्थापित हो जाती है जिससे भ्रंश के अवपात पार्श्व में संस्तर नीचे चले जाते है, सामान्य भ्रंश कहलाते हैं। ऐसे भ्रंशों का उन्नमन तथा अवपात पार्श्व एक ही ओर रहते हैं। इन्हें गुरूत्वीय भ्रंश (Gravity Fault) भी कहते हैं।

ब. **क्षेप भ्रंश या उत्क्रमित भ्रंश** (Thrust Fault of Reversed Fault) : भ्रंश जिनमें ऊपरिभित्ति, आधार भित्ति की अपेक्षा ऊपर चली जाती है जिससे भ्रंश का अवपात पार्श्व तथा उन्नमन एक दूसरे के विरूद्ध दिशा में रहते हैं, क्षेप भ्रंश या उत्क्रमित भ्रंश कहलाते हैं। क्षेप भ्रंश की नति की मात्रा 45° से अधिक होने पर इन्हें उत्क्रमित भ्रंश, 45° से कम होने पर क्षेप भ्रंश तथा 10° से कम होने पर अधिक्षेप भ्रंश (Over thrust fault) कहते हैं।

स. **अनुप्रस्थ भ्रंश** (Transverse Fault) : वे भ्रंश जो क्षेत्रीय संरचनाओं के अनुप्रस्थ निर्मित होते हैं, अनुप्रस्थ भ्रंश कहलाते हैं।

द. **अनुदैर्ध्य भ्रंश** (Longitudinal Fault) : वे भ्रंश जो क्षेत्रीय संरचनाओं के समान्तर होते हैं, अनुदैर्ध्य भ्रंश कहलाते हैं।

य. **ऊर्ध्वाधर भ्रंश** (Vertical Fault) : जब संस्तरों का विस्थापन, भ्रंश तल पर ऊर्ध्वाधर रूप में होता है तब निर्मित भ्रंश ऊर्ध्वाधर भ्रंश कहलाते हैं। इन भ्रंशों में आधारभित्ति ऊपर या नीचे विस्थापित हो सकती है।

3. भ्रंशों की प्रकृति के आधार पर : भ्रंशों की प्रकृति के आधार पर वर्गीकरण में भ्रंश का संबंध इनके संस्तरों की नति

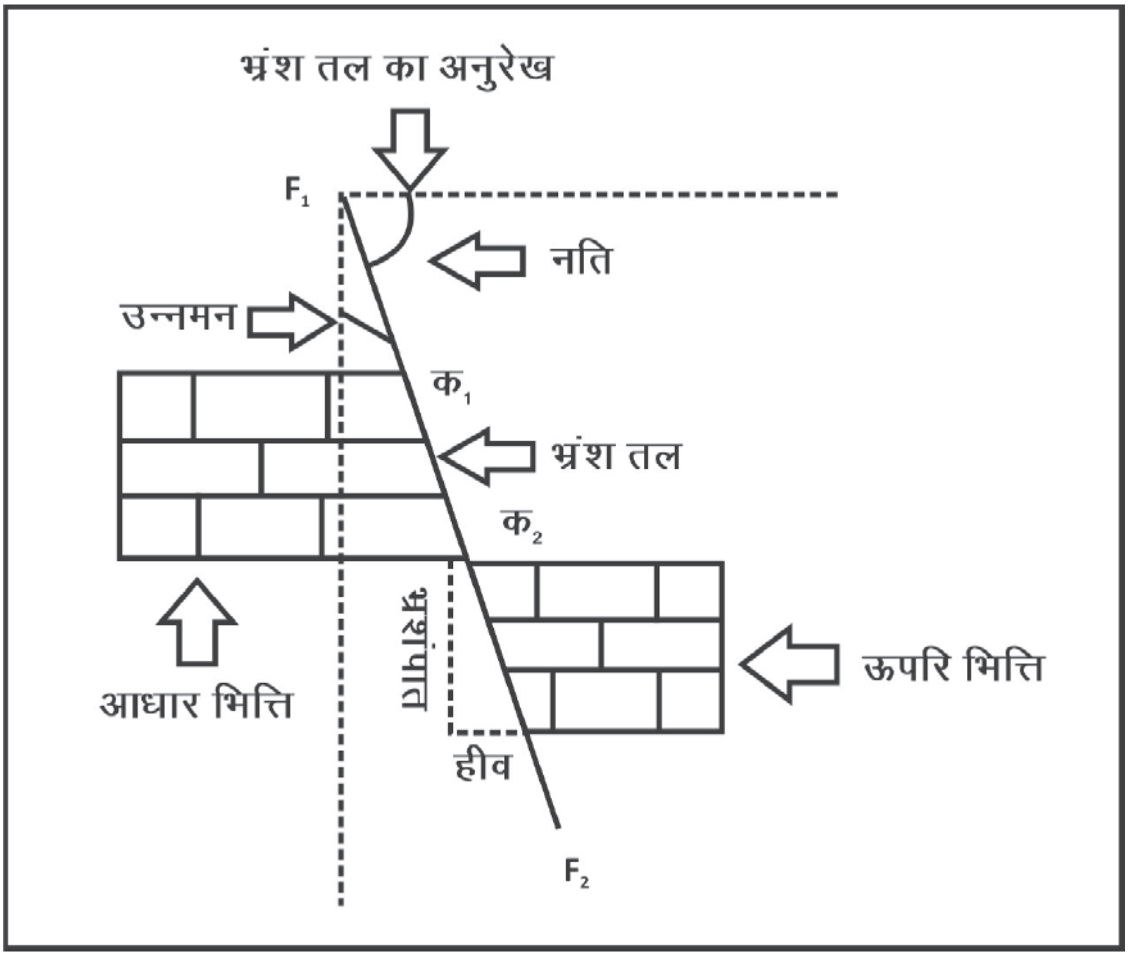

चित्र 1.18 : भ्रंश के विभिन्न भाग

तथा नतिलम्ब से किया जाता है, तदानुसार निम्न तीन प्रकार के भ्रंश वर्गीकृत किये जाते हैं–

अ. **नति भ्रंश** (Dip Fault) : वे भ्रंश जो कि संस्तरों की नति के समान्तर निर्मित होते है नति भ्रंश कहलाते हैं, इन भ्रंशों में विस्थापन नति की दिशा के समान्तर होता है।

ब. **नतिलम्ब भ्रंश** (Strike Fault) : वे भ्रंश जो कि संस्तरों की नतिलम्ब के समान्तर निर्मित होते हैं तथा जिनमें विस्थापन नतिलम्ब की दिशा के समान्तर होता है, नतिलम्ब भ्रंश कहलाते हैं।

स. **तिर्यक भ्रंश** (Oblique Fault) : वे भ्रंश जो कि संस्तरों के नतिलम्ब व नति दोनों के ही समान्तर नहीं होते हैं, तिर्यक भ्रंश कहलाते हैं।

4. नेट सर्पण के आधार पर : नेट सर्पण के आधार पर भ्रंशों को निम्नानुसार वर्गीकरण किया जाता है–

अ. **नति सर्पण भ्रंश** (Dip Slip Fault) : भ्रंश की नति की दिशा में ही नेट सर्पण की दिशा होने पर इन्हें नति सर्पण भ्रंश कहते हैं। इनमें विस्थापन केवल नति की दिशा में होता है तथा नतिलम्ब की दिशा में सर्पण शून्य रहता है।

ब. **नतिलम्ब सर्पण भ्रंश** (Strike Slip Fault) : भ्रंश का नतिलम्ब और नेट सर्पण एक ही दिशा में हो तो इसे नतिलम्ब सर्पण भ्रंश कहते हैं। इनमें संस्तर का विस्थापन केवल नतिलम्ब की ही दिशा में होता है तथा नति की दिशा में सर्पण शून्य रहता है।

स. **तिर्यक सर्पण भ्रंश** (Oblique Slip Fault) : भ्रंश का नेट सर्पण जब भ्रंश की नति या नतिलम्ब की दिशा में नहीं होता है तब इसे नेट सर्पण भ्रंश कहते हैं। इन भ्रंशों में नेटसर्पण, नतिलम्ब व नति दोनों के ही दिशा के सन्दर्भ में किया जाता है।

5. भ्रंशों का क्षेत्र में इनके विन्यास के आधार पर – क्षेत्र में भ्रंशों के विन्यास के अनुसार इनको निम्नानुसार वर्गीकृत किया जाता है–

अ. **अरीय भ्रंश** (Radial Fault) : वे भ्रंश जो कि एक बिन्दु से

विकीर्णित होते हैं अर्थात अरीय ढंग से व्यवस्थित रहते हैं, अरीय भ्रंश कहलाते हैं।

ब. **समान्तर भ्रंश** (Parallel Fault) : भ्रंश जब आपस में समान्तर होते हैं तथा इनके नतिलम्ब व नति में परिवर्तन नहीं होता है तब इन्हें समान्तर भ्रंश कहते हैं।

स. **सोपानी भ्रंश** (En-echelon Fault) : समान्तर भ्रंशों में जब एक भ्रंश के समाप्त होने के पहले कुछ ही दूरी पर दूसरा भ्रंश प्रारम्भ हो जाता है तथा इसी तरह तीसरा भ्रंश भी हो जाए तब भ्रंश एक–दूसरे का अतिव्यापन करते हो तो ऐसे भ्रंश सोपानी भ्रंश कहलाते हैं।

द. **परिधीय भ्रंश** (Peripheral Fault) : वे भ्रंश जो कि वक्राकार या चापाकार होते हैं तथा वृत्ताकार परिधि में स्थित होते हैं, परिधीय भ्रंश कहलाते हैं।

य. **होर्स्ट** (Horst) – जब दो सामान्य भ्रंशों का उन्नमन (Hade) एक–दूसरे के विरूद्ध दिशा में रहता है तथा उनका अवपात पार्श्व (Down Throw Side) विरूद्ध दिशा में हो तथा उनके बीच का भूखण्ड अपने स्थान पर ऊँचाई में स्थिर हो तो होर्स्ट का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में जब दो सामान्य भ्रंश जब अपसारी (Divergent) दिशाओं में होते हैं तथा दोनों पार्श्वों में स्थित भ्रंशित खण्डों का अधोमुखी विस्थापन होता है तब मध्य स्थित भाग उत्थित खण्ड के रूप में दिखाई पड़ता है, कटक भ्रंश (Ridge Fault) कहलाता है। इस प्रकार के उत्खण्ड भ्रंश जर्मन भाषा में होर्स्ट कहलाते हैं।

ल. **ग्राबेन** (Graben) : जब दो सामान्य भ्रंशों का उन्नमन एक–दूसरे की ओर हो तथा इनका अवपात पार्श्व एक ही दिशा में हो तथा दोनों भ्रंशों के बीच का भूखण्ड नीचे की ओर विस्थापित हो तो ऐसे भ्रंश को द्रोणिका भ्रंश (Trough Fault) कहते हैं। दूसरे शब्दों में दो सामान्य भ्रंश अभिसारी (Convergent) दिशाओं में होने से तथा उनके मध्य स्थित भ्रंशित खण्ड के अधोमुखी विस्थापन के फलस्वरूप द्रोणिका निर्मित होती है, द्रोणिका भ्रंश कहलाते हैं जिन्हें जर्मन भाषा में ग्राबेन कहते हैं।

व. **सीढ़ीनुमा भ्रंशन** (Step Faulting) : एक से अधिक सामान्य भ्रंश जब एक–दूसरे के समान्तर हो तथा इन सभी भ्रंशों का अवपात पार्श्व एक ही ओर हो तो ऐसे भ्रंशन सीढ़ीनुमा भ्रंशन कहलाते हैं। इसमें संस्तर नीचे चले जाने के कारण सीढ़ीनुमा आकृति निर्मित करते हैं।

विभिन्न प्रकार के भ्रंशों को चित्र 1.19 में दर्शाया गया है।

विषमविन्यास (Unconformity)

शैल संस्तरों के संस्तरण तल आपस में जब समान्तर हो तथा इनके नतिलम्ब और नति एक समान हो और संस्तर एक के ऊपर एक परतों में अबाध गति से अवसादों के निक्षेपण से जमते है तब इन्हें समविन्यासी (Conformable) संबंध कहते हैं। इसके विपरित जब अवसादन की प्रक्रिया में अवरोध आ जाता है तथा संस्तरों की अपरदन की क्रिया होने लगती है व कालान्तर में संस्तर के अपरदित सतह पर पुनः अन्य स्तरों का निक्षेपण होने लगता है व दोनों श्रेणियों के नतिलम्ब व नति में भी परिवर्तन होता है तब इन श्रेणियों के आपस के सम्बन्ध को विषमविन्यस्त (Unconformable) सम्बन्ध कहते हैं। अवसादन में रूकावट के फलस्वरूप दो विभिन्न शैल समूहों में पायी जाने वाली इस विषमता को विषमविन्यास (Unconformity) कहते हैं। दोनों शैल समूहों के संस्पर्श तल को ''विषमविन्यास तल'' (Plane of Unconformity) कहते हैं। यह तल अनियमित होता है जिसके नीचे प्राचीन शैल श्रेणी तथा ऊपर नवीन शैल श्रेणी के संस्तर पाए जाते हैं, इस प्रकार दोनों शैल समूह विषमविन्यास तल पर सम्पर्क में आते हैं। यह तल निक्षेपण नहीं होने वाला तल या अपरदन तल होता है।

विभिन्न प्रकार के शैलों के विवर्तनिक इतिहास (Tectonic History) के आधार पर विभिन्न प्रकार के विषमविन्यासों का वर्गीकरण निम्नानुसार किया गया है –

1. कोणीय विषमविन्यास (Angular Unconformity)
2. अपसमविन्यास (Disconformity)
3. स्थानीय विषमविन्यास (Local Unconformity)
4. असमविन्यास (Non conformity)

1. **कोणीय विषमविन्यास** (Angular Unconformity) : प्राचीन शैल संस्तरों के आनत (Inclined) या वलित (Folded) होने के पश्चात नवीन शैल संस्तरों के निक्षेपित होने से, प्राचीन तथा नवीन शैल संस्तरों की नति में असमानता होती है तथा इन संस्तरों की नति के कोण भिन्न–भिन्न होते हैं। इस प्रकार के विषमविन्यास को कोणीय विषमविन्यास कहते हैं।

2. **अपसमविन्यास** (Disconformity) : विषमविन्यास तल के ऊपर स्थित नवीन शैल श्रेणी तथा नीचे स्थित प्राचीन शैल श्रेणी जब समान्तर हो तो इस तरह का विषम विन्यास अपसमविन्यास कहलाता है। इसमें विषमविन्यास तल अपरदन पृष्ठ का द्योतक होता है।

3. **स्थानीय विषम विन्यास** (Local Unconformity) : बहुत कम समय में निर्मित अपसमविन्यास की तरह विषमविन्यास तल के नीचे और ऊपर संस्तर समान्तर सीमित क्षेत्र में स्थानीय रूप में पाये जाने वाले विषमविन्यास को स्थानीय विषमविन्यास कहते हैं।

4. **असमविन्यास** (Nonconformity) : इस प्रकार के

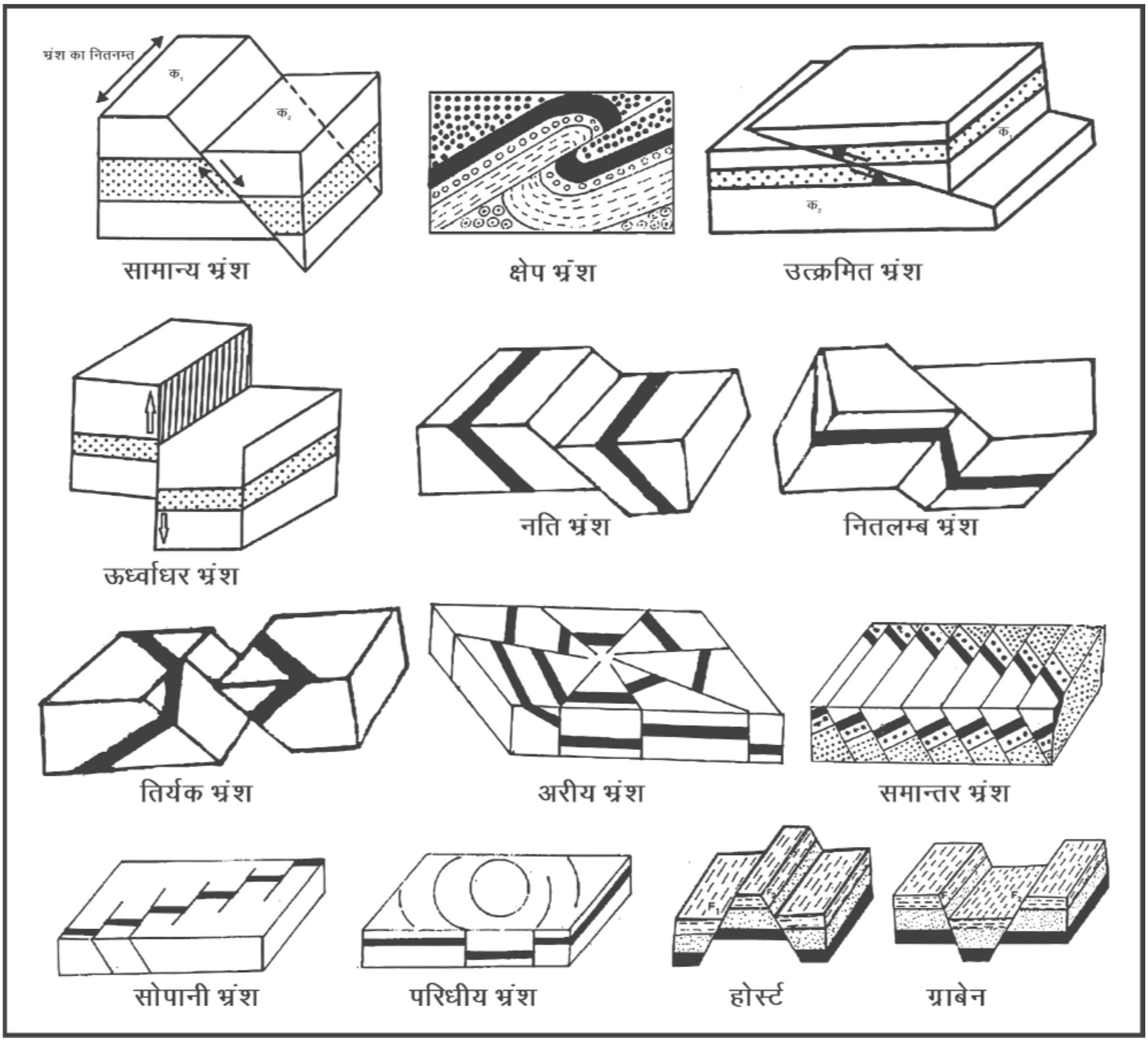

चित्र 1.19 : भ्रंशों के विभिन्न प्रकार

विषमविन्यास में प्राचीन श्रेणी आग्नेय शैल द्वारा निर्मित होते है तथा विषमविन्यास तल के ऊपर नवीन श्रेणी के संस्तरित अवसादी संस्तर (Stratified Sedimentany Beds) अथवा लावा प्रवाह (Lava Flows) द्वारा निर्मित होते है। इसके अलावा असमविन्यास में विषमविन्यास तल के नीचे प्राचीन शैल श्रेणी अवसादी शैलों व ऊपर नवीन शैल लावा प्रवाह अथवा नीचे, प्राचीन व ऊपर नवीन शैल दोनों ही लावा प्रवाह हो सकते हैं। विभिन्न प्रकार के विषमविन्यास चित्र 1.20 में दर्शाये गए हैं।

हिमालय पर्वत की उत्पत्ति
(Origin of the Himalaya Mountain)

हिमालय पर्वत की उत्पत्ति तृतीय महाकल्प (Tertiary Era) के दौरान हुई परन्तु इसमें कैम्ब्रियन से लेकर आदिनूतन युग (Cambrian to Eocene) तक के शैल पाये जाते हैं। हिमालय पर्वत, वलित पर्वत (Folded Mountain) का उदाहरण है अर्थात् हिमालय की उत्पत्ति एक जटिल वलित पर्वत की उत्पति का प्रतीक है।

महाद्वीपीय विस्थापन के सिद्धांत के अनुसार वर्तमान महाद्वीपों व महासागरों का निर्माण पुराजीवी महाकल्प में दक्षिण ध्रुव के आसपास एक विशाल भूखण्ड पेन्जिया से हुआ, जिसके चारों ओर पेंथालसा महासागर फैला हुआ था। 44 करोड़ वर्षों पूर्व सिलूरियन कल्प में आन्तरिक बलों के कारण पेन्जिया में बड़ी बड़ी दरारें पड़ी व यह दो भागों में विभाजित हो गया। उत्तर दिशा में लारेशिया व दक्षिण में गोंडवाना महाखण्ड अस्तित्व में आए

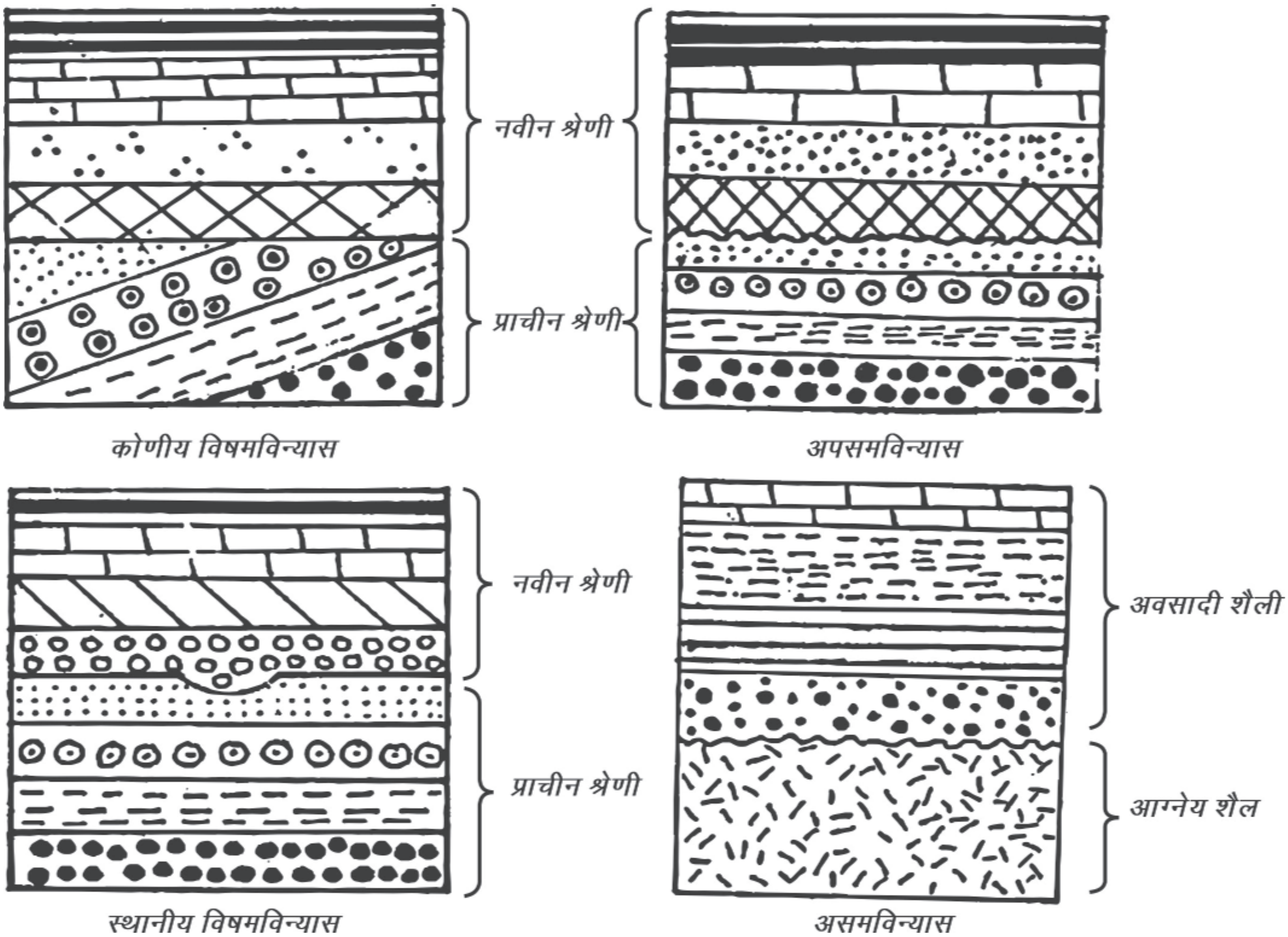

चित्र 1.20 : विषमविन्यास के विभिन्न प्रकार

तथा इनके मध्य टेथिस महासागर निर्मित हुआ। कालांतर में लारेशिया के विखंडन व विस्थापन से ग्रीनलैंड, यूरेशिया, व उत्तरी अमेरिका तथा गोंडवाना महाखण्ड से दक्षिण अमेरिका, अफ्रीका, अंटार्कटिका, आस्ट्रेलिया व भारतीय उपमहाद्वीप के रूप में वर्तमान महाद्वीपों व महासागरों की स्थापना हुई। टेथिस सागर में जमे स्तरित अवसादों पर संपीडन बलों के कारण वलनीकरण ओर भ्रंशन प्रक्रियाओं के फलस्वरूप हिमालय पर्वत माला की उत्पत्ति हुई। हिमालय पर्वत की सर्वाधिक ऊंची चोटी माउंट एवरेस्ट की ऊंचाई औसत समुद्र तल से 8848 मीटर है और यह विवर्तनिक हलचलों के कारण बढ़ रही है। हिमालय की आयु कालगणना के अनुसार 45 करोड़ वर्ष आंकी गई हैं और इस की वर्तमान ऊंचाई की स्थिति 5.5 करोड़ वर्ष पूर्व अर्जित की गई थी।

हिमालय के एक ओर दक्षिण में डेकन के पठार तथा दूसरी ओर उत्तर में तिब्बत के पठार के रूप में दृढ़ भूमियां है। इनके बीच में टेथिस सागर पूर्व काल में रहा था जिसमें लगातार अवसादों का निक्षेपण हुआ। इन दोनों दृढ़ भूमियों से टेथिस सागर पर दाब की क्रियाशीलता के फलस्वरूप अवसादों के वलित होने से हिमालय पर्वत की उत्पत्ति हुई। मध्यपुराजीवी महाकल्प (Middle Palaeozoic Era) के दौरान उत्तर में लारेशिया व दक्षिण में गोंडवाणा महाद्वीपों के मध्य, पूर्व से पश्चिम तक विस्तरित संकरे समुद्र टेथिस (Tethys) में महाद्वीपों से अपरदित अवसादों का निक्षेपण करोड़ों वर्षों तक होता गया। जुरैसिक काल के उत्तरार्द्ध में लगभग (18 करोड़ वर्ष पूर्व) गोंडवाना महाद्वीप का विघटन तथा विस्थापन होने के कारण सम्पीड़न बलों की उत्पत्ति हुई। लारेशिया महाद्वीप का भी विस्थापन हुआ। इस कारण टेथिस सागर में निक्षेपित स्तरित अवसादों पर सम्पीड़न बल के प्रयोग से वलन, क्षेपण तथा भ्रंशन के फलस्वरूप हिमालय पर्वत की उत्पत्ति हुई। अतः महाद्वीपों के विस्थापन को हिमालय की उत्पत्ति का मुख्य कारण माना जा सकता है। हिमालय पर्वत की शैलों में उपलब्ध जीवाश्मीय प्रमाण संकेत करते है कि इनका निर्माण उथले सागरों में ही हुआ जिन्हें भू–अभिनति (Geosyncline) कहते हैं। प्रायद्वीपीय भारत का मध्य एशिया की ओर अधःक्षेप (Under Thrust) होने के फलस्वरूप टेथिस सागर के अवसादों का उत्थापन हुआ और हिमालय पर्वत की उत्पत्ति हुई।

हिमालय पर्वत माला का उत्थान (Upliftment) चार विभिन्न कालों में हुआ। उत्तर आदिनूतन काल (Late Eocene) (लगभग 6 करोड़ वर्ष पूर्व) में प्रथम भू–संचलन के कारण मध्य हिमालय भाग ऊपर उठा तथा इसके उत्तर व दक्षिण भाग में अवशिष्ट टेथिस सागर में निक्षेपित होते रहे। दूसरा तीव्रतम भू–संचलन मध्य नूतन युग (Miocene) (2 करोड़ वर्ष पूर्व) में हुआ तथा इसके कारण उत्तरी भाग की पर्वत–श्रेणियों में उत्थान हुआ। इस प्रभावशाली तीव्र आवेग के कारण दक्षिण के कुछ स्थानों को छोड़कर अधिकांशः टेथिस का लोप हो गया था। दक्षिण के गिरीपद क्षेत्र के संकरे व लम्बे समुद्री भाग में शिवालिक अवसादों का निक्षेपण होता रहा। तीसरा भू–संचलन अतिनूतन युग (Pliocene) (1 करोड़ वर्ष पूर्व) के दौरान हुआ जिसके कारण सम्पूर्ण टेथिस सागर विलुप्त हो गया तथा शिवालिक पर्वत श्रेणी का उत्थान हुआ। इसी आवेग के कारण हिमालय की ऊंचाई में ओर उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। चौथा तथा अंतिम भू–संचलन अत्यन्त नूतन युग (Pleistocene) (25 लाख वर्ष पूर्व) में हुआ जिसके फलस्वरूप हिमालय पर्वत विश्व की सर्वोच्च चोटी बन गई तथा भारतीय प्लेट के संचलन के कारण इसकी ऊंचाई में वर्तमान में भी लगातार शनै–शनै वृद्धि होती जा रही है।

थार रेगिस्तान की उत्पत्ति

(Origin of the Thar Desert)

थार का रेगिस्ताान भारत देश के उत्तर पश्चिम में मुख्यतः राजस्थान राज्य में तथा कुछ भाग हरियाणा, पंजाब व गुजरात राज्यो में और पड़ौसी देश पाकिस्तान के सिंध व पंजाब प्रान्तों में फैला हुआ है (चित्र 1.21)। लहरदार रेतीले टिब्बों युक्त करीब दो लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में इसका फैलाव है। इसकी सतह असमान व ऊँची–नीची है जिसमें विभिन्न आकार प्रकार के छोटे–बड़े रेतीले टिब्बे, रेत के विशाल मैदान तथा छोटे बंजर पहाड़ सम्मिलित है। पुराने टिब्बे अर्द्ध स्थिर व स्थिर है जिनकी ऊंचाई करीब 150 मीटर तक है। पश्चिम राजस्थान के रेगिस्तान में खारे पानी की झीलें (प्लाया) पचपदरा, डीडवाना, लूणकरणसर व सांभर में मौजूद हैं। इस क्षेत्र में मिट्टी की विभिन्न सात श्रेणियां मिलती हैं जो खुरदरी, चूनेदार व शुष्क हैं। इस क्षेत्र के पश्चिमी भाग में वार्षिक वर्षा 100 मिलीमीटर या कम तथा पूर्वी भाग में 500 मिलीमीटर होती है तथा कुल वर्षा का 90 फीसदी भाग दक्षिण–पश्चिम मानसून अवधि (जुलाई से सितम्बर माह) में बरसता है। मई–जून माह में तापमान 47° सेल्सियस से भी ऊपर चला जाता है तथा 150 किलोमीटर प्रति घण्टा की गति से तेज धूल भरी आँधियां चलती हैं। सर्दी के मौसम में तापमान जमाव बिन्दु के करीब चला जाता है। थार का रेगिस्तान लगातार उत्तर पूर्व दिशा की ओर फैलता जा रहा है तथा इस क्षेत्र में मरूद्भिद् वनस्पति पाई जाती है। राजस्थान के 63 फीसदी क्षेत्र में मरूस्थल विस्तृत है तथा पश्चिमी राजस्थान के बीकानेर, बाड़मेर, जैसलमेर, जोधपुर व चुरू जिले में मरूस्थलीय दशाओं को प्रभावी रूप से देखा जा सकता है।

थार का रेगिस्ताान विश्व के नवीनतम मरूस्थलों में से एक है तथा इसकी उत्पत्ति में भूगर्भीय हलचलों, जलवायु परिवर्तन (वर्षा में कमी, तापमान में वृद्धि), वनस्पति आवरण में कमी, स्थलाकृति में बदलाव (पर्वतोत्थान, सरस्वती नदी के विलुप्तीकरण), मानसूनी हवाओं द्वारा परिवाहित अवसाद (बालू) के जमाव इत्यादि के साथ मानव की गतिविधियों (Anthropogenic Activities) का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसकी उत्पत्ति को संक्षेप में निम्नानुसार समझा जा सकता है–

– थार के रेगिस्तान (मरूस्थल) में प्रायद्वीपीय व प्रायद्वीपेत्तर दोनों क्षेत्रों की विशेषताएं मिलती हैं। यह क्षेत्र तृतीयक कल्प (Tertiary Period) के दौरान टेथिस सागर से भी संबंधित रहा। बालूकाश्म (Sandstone) तथा चूनापत्थर (Limestone) के संस्तर तथा इनमें समुद्री जीवाश्मों की उपस्थिति इसकी पुष्टि करते हैं।

– आदि नूतन कल्प (Eocene Period) के दौरान एक विशाल नदी 'इण्डोबह्म' शिवालिक नदी प्रायद्वीप क्षेत्र के उत्तर में शिवालिक गिरिपीढ की जगह बहती थी। पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर हजारों किलोमीटर लम्बाई में बहने वाली यह नदी वर्तमान सिंधु की निचली घाटी में स्थित समुद्र में मिलती थी। उस कालावधि (आदि नूतन कल्प) में हिमालय श्रृंखला की दक्षिणी श्रेणियां टेथिस सागर के भीतर ही थी मगर अरावली से असम तक प्रायद्वीपीय पर्वत–पठार क्रम श्रृंखलाबद्ध रूप में विद्यमान थे। ऊपरी तृतीयक काल के अन्तिम समय में भूगर्भीय हलचलों के फलस्वरूप पश्चिम के धंसे हुये क्षेत्र में उभार प्रक्रिया (Upliftment Process) प्रारम्भ हुई तथा प्रायद्वीपीय भारत के उत्तरी–पूर्वी भाग में ध्वंस (Collapse) हुआ जिसके कारण ''राजमहल–शिलांग अन्तर'' (Gap) का निर्माण हुआ। धरातलीय स्थलाकृति स्वरूप में हुए इन बदलावों की वजह से मरूस्थलीय क्षेत्र समुद्री आवरण से मुक्त हो गया। शिवालिक श्रेणी के उत्थान के फलस्वरूप इंडोबह्म–क्रम की बहाव की दिशा में परिवर्तन हुआ तथा यह बंगाल की खाड़ी में मिलने लगी। सरस्वती नदी भी बाद में उत्तर पंजाब प्रदेश में उठाव के साथ क्रमशः पूर्वोत्तर होकर अन्ततः यमुना के रूप में गंगा नदी में मिल गई परन्तु इसकी मूल घाटी पूर्णतः शुष्क नहीं हुई व इसमें बाद में भी पानी का बहाव रहा। परन्तु प्रदेश में भीषण गर्मी व शुष्कता के बढने के साथ ही इसकी जलधारा भी सूख गई। हनुमानगढ़ क्षेत्र में ''घग्घर पेटे'' को सरस्वती की शुष्क घाटी माना जाता है। मध्य नूतन

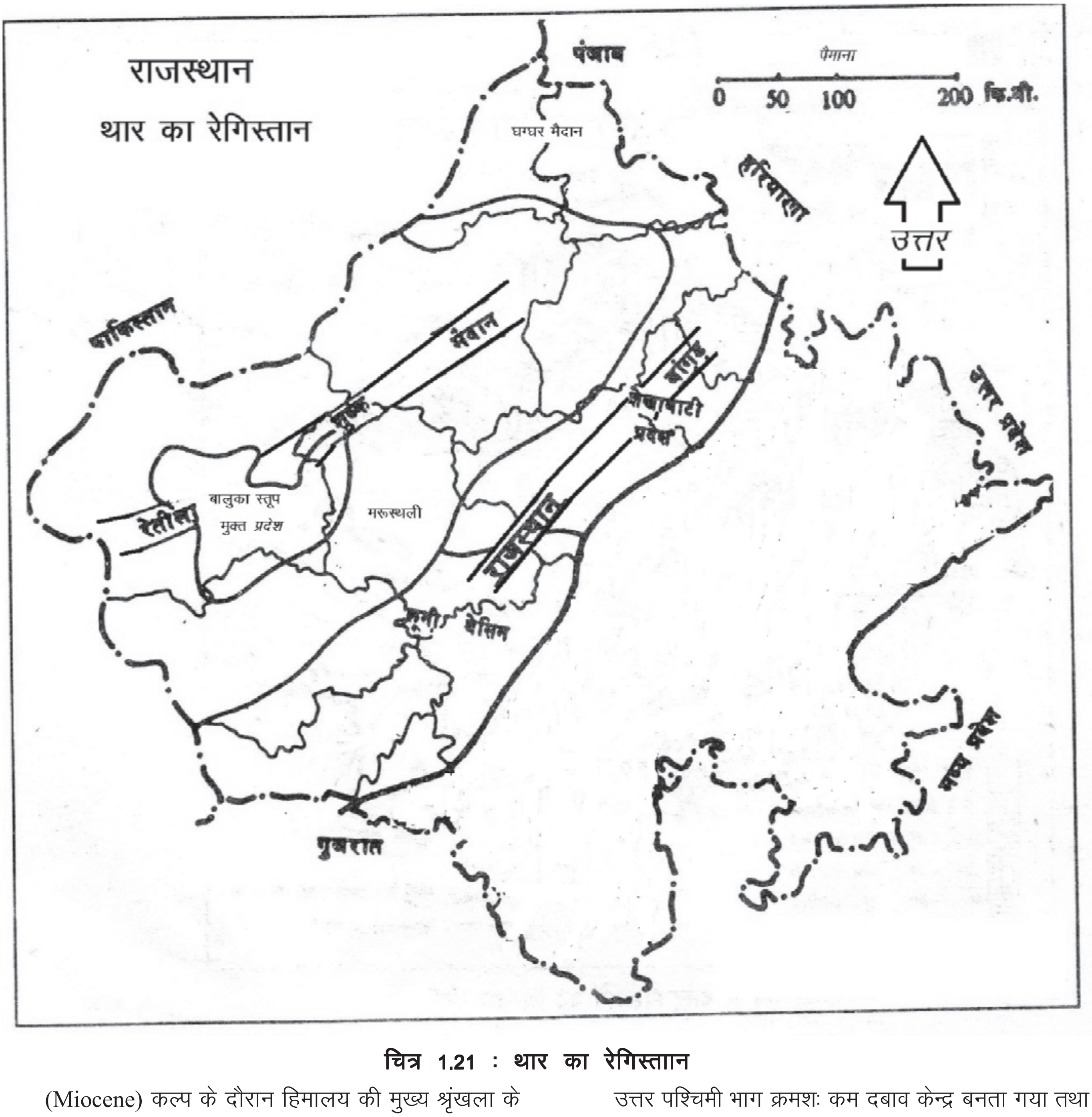

चित्र 1.21 : थार का रेगिस्ताान

(Miocene) कल्प के दौरान हिमालय की मुख्य श्रृंखला के उत्थान के साथ भारतीय उपमहाद्वीप में मानसूनी जलवायु व्यवस्था का विकास हो रहा था। अत्यन्त नूतन (Pleistocene) कल्प के दौरान के हिमयुग (Ice Age) का भी जलवायु पर प्रभाव पड़ा। अन्तिम हिम आवरण वर्तमान से 7 हजार वर्ष पूर्व तक रहा तथा उस वक्त तक मरूस्थलीय दशाएँ नहीं रही होगी। इस अवधि उपरान्त ही शुष्क दशाओं की परिस्थितियों में वृद्धि हुई जो निरन्तर आज भी जारी है। गर्मी बढ़ने के कारण तापवृद्धि के साथ भारत का उत्तर पश्चिमी भाग क्रमशः कम दबाव केन्द्र बनता गया तथा दक्षिण पश्चिमी मानसूनी हवाओं को अपनी ओर खींचने लगा। तापमान में बढ़ोतरी व धरातलीय स्वरूप के मिश्रित प्रभावों से निरन्तर वर्षा में कमी के कारण मरूस्थलीय परिस्थितियों में वृद्धि होने लगी। गर्मी ऋतु में तापमान 45° सेल्सियस से भी ऊपर चला जाता है जिसके फलस्वरूप वायु दाब तथा सापेक्षिक आर्द्रता घट जाते है। इस क्षेत्र में ऊंचे पर्वत के अवरोध की अनुपस्थिति तथा प्रवाह में आर्द्रता की कमी के कारण वर्षा की मात्रा में कमी हो जाती है।

अफगानिस्तान पठार से आने वाली गर्म पश्चिमी हवाएं भी ताप वृद्धि व सापेक्षिक आर्द्रता को घटाकर वर्षा में कमी करती है तथा लगातार सूखे की स्थितियां रहती हैं।

– हजारों वर्षों से निरन्तर इस क्षेत्र में वर्षा की मात्रा में कमी व तापमान में वृद्धि के कारण चट्टानों का यांत्रिक विखण्डन होने लगा। जल की कमी के कारण वनस्पति आवरण भी कम होने लगा। दक्षिण–पश्चिमी मानसूनी हवाएं लाखों टन बालू प्रतिवर्ष 'कच्छ के रन' से अपने साथ उड़ाकर पश्चिम राजस्थान में लाकर जमा करती रही है जिसके फलस्वरूप क्षेत्र में बालुका स्तूपों के एकत्रीकरण व स्थानान्तरण के प्रक्रम अनवरत जारी है। मानव द्वारा जंगलों की अंधाधुंध कटाई से वन क्षेत्र में कमी ने भी मरूस्थल के फैलाव में भूमिका निर्वाहित की है।

– चतुर्थ कल्प (Quarternary Period) में अधिकतर समय जलवायु परिस्थितियां शुष्क (Dry) रही तथा शुष्कता (Aridity) चतुर्थ कल्प के प्रारम्भ से होना शुरू हो गई। रेतीले टिब्बों की बालू की थर्मोल्यूमिनिसेंस डेटिंग (टी.एल. डेटिंग) दो लाख वर्षों पूर्व गर्म व शुष्क परिस्थितियों के प्रसार/फैलाव का संकेत करती है। तीव्र दक्षिण पश्चिम मानसून हवाओं के समय में वायूढ़ गतिविधि थार के रेगिस्तान में चक्रीय रूप में विभिन्न अंतरालों यथा 115-110 हजार वर्ष पूर्व, 75 हजार वर्ष पूर्व, 55 हजार वर्ष पूर्व, 30-25 हजार वर्ष पूर्व, 16 हजार वर्ष पूर्व, 14-10 हजार वर्ष पूर्व, 5-3.5 हजार वर्ष पूर्व, 2 हजार वर्ष पूर्व, 800 वर्ष पूर्व तथा 600 वर्ष पूर्व घटित हुई थी। अन्तिम हिम अधिकता (Last Glacial Maxima) के दौरान (15 हजार वर्ष पूर्व) उच्च शुष्कता की अवधि में वायूढ़ गतिविधि अधिक मजबूत नहीं रही। 8-5.5 हजार वर्ष पूर्व की समयावधि में उल्लेखनीय वर्षा हुई।

– शुष्कता की लम्बी समयावधि के बीच अधिक वर्षा व आद्रता के दौर 40-20 हजार वर्ष पूर्व, 18-13 हजार वर्ष पूर्व, 10-4 हजार वर्ष पूर्व रहे। 8-3.5 हजार वर्ष पूर्व की समयावधि में वर्षा वर्तमान से 50 सेन्टीमीटर ज्यादा होती थी। थार के रेगिस्तान में बालू–रेत के विस्तीर्ण आवरण पर निर्मित मृदा बहुत उपजाऊ है तथा मानसून की बारिश, पोषक तत्वों से भरपूर इस मृदायुक्त रेगिस्तान की धरा को घास व झाड़ियों से हरितिमा प्रदान करती है। पोषक तत्व मिट्टी में नदियों, पर्वतों से बहते हुए अपने साथ लेकर आती है।

– चतुर्थ कल्प के अत्यन्त नूतन (Pleistocene) काल में निचले पाषाण काल (Lower Palaeolithic) के मानव निर्मित हस्त औजार (Artefacts) यथा गण्डासे (Chopper), खुरचियाँ, विद्राणियाँ (Cleavers) व हस्तकुठार (Hand axes) नागौर जिले के डीडवाना में '16 आर' जीवाश्मीय टीब्बे की ट्रेंच व आस पास के क्षेत्रों में मिले है जो रेगिस्तान के इस क्षेत्र में 8 लाख वर्ष पूर्व होमो इरेक्टस के आबादित होने तथा उस वक्त इस क्षेत्र में नदी प्रवाह तंत्र की उपस्थिति का संकेत करते हैं।

– थार के रेगिस्तान में रेतीले टिब्बों (बालुका स्तूप) के निर्माण की प्रक्रिया मध्य अत्यन्त नूतन (Middle Pleistocene) अर्थात् चार लाख वर्षों पूर्व से लेकर वर्तमान से छः हजार वर्ष पूर्व तक जारी रही। दो लाख वर्ष पुराने अवशेष थार रेगिस्तान में मिलते हैं परन्तु वायुढ़ गतिविधियों का शीर्षकाल इस अवधि में के काफी पश्चात् प्रारम्भ हुआ। अन्तिम हिम अधिकता के पश्चात् (14–12 हजार वर्ष पूर्व) वायुढ़ गतिविधियों में वृद्धि हुई।

– पिछले दस हजार वर्षों में अभिनव काल (Holocene) में हिमालय में घटित हुई नवविवर्तनिक हलचलों के प्रभाव से थार के रेगिस्ताान का क्षेत्र भी अछूता नहीं रहा तथा इसी प्रभाव से सरस्वती नदी प्रदेश में पश्चिम दिशा में स्थानान्तरित होकर अन्ततः इस क्षेत्र से विलुप्त हो गई। नदी विलुप्तीकरण के लिए क्षेत्र में किसी बड़े भूकम्प तथा उपस्थित भ्रंशों में भूसंचलन की महत्ती भूमिका रही। 8–5 हजार वर्ष पूर्व सरस्वती के विलुप्त होने से हड़प्पाकालीन नगर भी उजड़ गये। भारतीय प्लेट की उत्तर पूर्व दिशा में गतिशीलता व यूरेशियाई प्लेट से भिड़न्त भी इन परिवर्तनों के लिए जिम्मेवार है। विलुप्त सरस्वती व इसकी सहायक नदी दृष्द्ववती के अवशेष पश्चिम राजस्थान की खारे पानी की झीलों के रूप में दृष्टिगत है।

– 10–5 हजार वर्ष पूर्व की समयावधि (पूर्व वैदिक काल से महाभारत काल तक) में दक्षिण पश्चिम मानसून बहुत सक्रिय रहा जिसके कारण इस क्षेत्र में भारी वर्षा हुआ करती थी। सुदूर संवेदी तकनीक से प्राप्त आकाशी चित्रों (Aerial Photographs) में पश्चिम राजस्थान में विलुप्त सरस्वती व इसकी सहायक दृष्द्वती नदी के 5 पुरा जल प्रवाह तंत्र (Palaeochannels) दिखाई पड़ते हैं जो कच्छ की खाड़ी में आकर मिलते हैं। इनकी चौड़ाई कुछ सौ मीटर से लेकर 10 किलोमीटर तक है। अभिनव काल (Holocene) में करीब 6–5 हजार वर्ष पूर्व भूगर्भीय हलचलों, जलवायु परिवर्तन, पर्वतोत्थान, सरस्वती नदी के विलुप्तीकरण, वर्षा में कमी, तापमान में वृद्धि, वनस्पति आवरण में कमी, मानसूनी हवाओं द्वारा परिवाहित अवसाद बालू के जमाव इत्यादि

विभिन्न कारणों के संयुक्त प्रभाव से विभिन्न आकार व प्रकार के रेतीले टिब्बों का विस्तृत क्षेत्र में फैलाव होने लगा। 5–3 हजार वर्ष पूर्व की समयावधि में शुष्क जलवायु में बढ़ोतरी के फलस्वरूप 3900 वर्ष पूर्व सिंधु घाटी सभ्यता (मोहनजोदड़ो) का अंत हो गया। वायूढ़ अभिवृद्धि थार के रेगिस्तान में 600 वर्षों पूर्व तक जारी रही तथा अनुदैर्ध्य बालुका – टिब्बा, अनुप्रस्थ बालुका – टिब्बा, परवलयिक बालुका टिब्बा इत्यादि विभिन्न प्रकार के टिब्बों से निर्मित थार का रेगिस्तान का प्रसार आज भी निरन्तर जारी है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. भूवैज्ञानिक कारकों द्वारा पृथ्वी की भूपर्पटी की शैलों पर भूवैज्ञानिक कार्यों के अन्तर्गत अपरदन (Erosion), परिवहन (Transportation) एवं निक्षेपण (Deposition) के कार्य होते हैं।
2. वायु (पवन) तथा नदी द्वारा पृथ्वी की सतह पर स्थित शैलों पर अपरदन, परिवहन एवं निक्षेपण के विभिन्न भूवैज्ञानिक कार्य सतत् रूप से होते है।
3. वायु (पवन) के भूवैज्ञानिक कार्य यथा अपरदन, परिवहन और निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलरूप वातोढ़ स्थलरूप कहलाते हैं।
4. मुख्य नदी, सहायक नदियों व सरिताओं का सम्मिलित प्रतिरूप नदी तंत्र (River System) कहलाता है।
5. नदी तंत्र के विकास की चार प्रमुख अवस्थाएं क्रमशः प्रारम्भिक अवस्था (Infant Stage), तरूणावस्था (Youth Stage), प्रौढ़ावस्था (Mature Stage) एवं वृद्धावस्था (Old Stage) है।
6. नदी एवं समुद्र के संगम स्थल पर ज्वारनदमुख (Estuary) या डेल्टा (Delta) बनता है।
7. सहायक सरिताओं और मुख्य नदी के सामूहिक रूप में बहाव से किसी क्षेत्र में निर्मित होने वाले विन्यास को अपवाह–प्ररूप (Drainage Pattern) कहते हैं। मुख्य अपवाह प्ररूपों में द्रमाकृतिक, जालीनुमा, समकोणिक, अरीय, वलयाकार, समान्तर तथा कंटकीय प्ररूप महत्वपूर्ण है।
8. पृथ्वी के अन्दर होने वाली घटना के फलस्वरूप जब भूधरातल का कोई भाग अकस्मात कुछ क्षणों के लिए कांप उठता है तो इसे भूकम्प कहते हैं। भूकम्प के दौरान तीन तरह की भूकम्पीय तरंगों का संचारण होता है।
9. भूकम्पों की उत्पत्ति मुख्यतः विवर्तनिक तथा अविवर्तनिक कारणों से होती है।
10. पृथ्वी पर आने वाले भूकम्पों के 95 फीसदी भूकम्प दो कटिबन्धों यथा परि–प्रशांत कटिबंध (Circum Pacific Belt) व भूमध्यी–भूकम्पी कटिबंध (Mediterranean Seismic Belt) में ही अधिकतया आए हैं।
11. भूपटल पर गहरे छिद्र या दरार जिसके माध्यम से होकर भूगर्भ की उष्ण गैसे तरल द्रव, शैल खण्ड इत्यादि सामान्यत प्रचंड विस्फोट के साथ बाहर निष्कासित होकर भूपृष्ठ पर फैल जाते हैं ज्वालामुखी कहलाते हैं।
12. भूगर्भ से भूपटल की ओर प्रवाहित होने वाले लावा की गति से संबंधित अन्तर्वेधी (Intrusive) तथा बहिर्वेधी (Extrusive) क्रियायें ज्वालामुखी उद्भव (Volcanism) कहलाती है।
13. भूपर्पटी के भिन्न–भिन्न ऊँचाईयों के विशाल भूखण्ड यथा पर्वत, पठार, मैदान तथा समुद्री तल के बीच पाई जाने वाली सन्तुलन की स्थिति समस्थिति कहलाती है।
14. वेगनर के महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धांत में पुराजीवी महाकल्प में अत्यन्त विशाल सिएल (Sial) भूखण्ड ''पेन्जिया'' (Pangaea) तथा इसके चारों ओर फैले विस्तृत महासागर ''पैथालसा'' (Penthalassa) की परिकल्पना की गई थी।
15. सिलूरियन कल्प में पेन्जिया के विभाजन से उत्तर में लॉरेंशिया तथा दक्षिण में गोंडवाना महाखण्ड तथा इनके मध्य में टेथिस महासागर अस्तित्व में आये।
16. प्लेट विवर्तनिकी सिद्धांत के द्वारा भूवैज्ञानिक प्रक्रमों की पुष्टि के साथ पृथ्वी के पृष्ठीय–लक्षण, विवर्तनिक प्रक्रियाओं तथा भूपर्पटी के विकास से सम्बन्धित मुद्दों को समझा जा सकता है।
17. भूपर्पटी के शैल संस्तरों पर जब दो विरूद्ध दिशाओं से प्रतिबल कार्यरत होता है तब इनमें तरंगित संरचनाओं का निर्माण होता है, इन्हें वलन (Fold) कहते हैं।
18. संस्तरों का विभंग पर हुए विस्थापन (Displacement) को भ्रंश (Fault) कहते हैं तथा यह प्रक्रिया भ्रंशन (Faulting) कहलाती है।
19. अवसादन में रूकावट के फलस्वरूप दो विभिन्न शैल समूहों में पायी जाने वाली विषमता को विषमविन्यास (Unconformity) कहते हैं।
20. हिमालय पर्वत की उत्पत्ति तृतीय महाकल्प (Tertiary Era) के दौरान हुई। हिमालय पर्वत, वलित पर्वत (Folded Mountain) का उदाहरण है।
21. प्रायद्वीपीय भारत का मध्य एशिया की ओर अधःक्षेप (Under Thrust) होने के फलस्वरूप टेथिस सागर के अवसादों का

उत्थापन हुआ और हिमालय पर्वत की उत्पत्ति हुई।

22. थार का रेगिस्ताान भारत देश के उत्तर पश्चिम में मुख्यतः राजस्थान राज्य में तथा कुछ भाग हरियाणा, पंजाब व गुजरात राज्यों में और पड़ौसी देश पाकिस्तान के सिंध व पंजाब प्रान्तों में फैला हुआ है।

23. थार के रेगिस्तान की उत्पत्ति में भूगर्भीय हलचलों, जलवायु परिवर्तन (वर्षा में कमी, तापमान में वृद्धि), वनस्पति आवरण में कमी, स्थलाकृति में बदलाव (पर्वतोत्थान, सरस्वती नदी के विलुप्तीकरण), मानसूनी हवाओं द्वारा परिवाहित अवसाद (बालू) के जमाव इत्यादि के साथ मानव की गतिविधियों (Anthropogenic Activities) का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

24. थार के रेगिस्तान में रेतीले टिब्बों (बालुका स्तूप) के निर्माण की प्रक्रिया मध्य अत्यन्त नूतन (Middle Pleistocene) अर्थात् चार लाख वर्षों पूर्व से लेकर वर्तमान से छः हजार वर्ष पूर्व तक जारी रही। दो लाख वर्ष पुराने अवशेष थार रेगिस्तान में मिलते हैं। वायुढ़ गतिविधियों का शीर्षकाल इस अवधि के काफी पश्चात् प्रारम्भ हुआ। वायूढ़ अभिवृद्धि थार के रेगिस्तान में 600 वर्षों पूर्व तक जारी रही तथा विभिन्न प्रकार के टिब्बों से निर्मित थार का रेगिस्ताान का प्रसार आज भी निरन्तर जारी है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भौतिक शक्तियों द्वारा होने वाले परिवर्तन जिसमें शैलों के संघटन में बदलाव नहीं होता है, यह प्रक्रम कहलाता है?
   (अ) विघटन (ब) अपघटन
   (स) अपरदन (द) निक्षेपण

2. वायु की गति में बाधा होने के कारण परिवहित शैल कणों के निक्षेपण कणों के निक्षेपण से निर्मित निक्षेप कहलाते हैं?
   (अ) जलोढ निक्षेप (ब) डेल्टा
   (स) वातोढ निक्षेप (द) हिमोढ निक्षेप

3. ग्रीष्म ऋतु में सूख जाने वाली नदी कहलाती है?
   (अ) आन्तरायिक नदी (ब) स्थायी नदी
   (स) समुद्री नदी (द) महाद्वीपीय नदी

4. नदी एवं समुद्र के संगम स्थल पर कौनसी रचनाएं बनती हैं?
   (अ) ज्वारनदमुख
   (ब) डेल्टा
   (स) ज्वारनदमुख व डेल्टा
   (द) झील

5. पृथ्वी की गहराई में जिस स्थान से भूकम्पीय तरंगें उत्पन्न होती हैं वह स्थान कहलाता है?
   (अ) भूकम्प का अभिकेन्द्र
   (ब) भूकम्पीय तरंग केन्द्र
   (स) समुद्री–कम्प
   (द) भूकम्प का उद्गम केन्द्र

6. कुछ समयावधि के अन्तराल में उद्गीर्ण होने वाले ज्वालामुखी कहलाते हैं?
   (अ) क्रियाशील ज्वालामुखी
   (ब) प्रसुप्त ज्वालामुखी
   (स) निर्वापित ज्वालामुखी
   (द) विलुप्त ज्वालामुखी

7. पेन्जिया के चारों ओर फैला विस्तृत महासागर कौनसा था?
   (अ) पैंथालसा (ब) अटलाण्टिक महासागर
   (स) प्रशांत महासागर (द) हिन्द महासागर

8. प्लेटों की मोटाई कितनी होती है?
   (अ) 200–250 कि.मी. (ब) 300–350 कि.मी.
   (स) 10–75 कि.मी. (द) 100–150 कि.मी.

9. संस्तरों के उत्संवलन के कारण निर्मित वलन का भाग कहलाता है?
   (अ) द्रोणिका (ब) अभिनति
   (स) अपनति (द) अक्षीय तल

10. ऊर्ध्वाधर तल तथा भ्रंश तल के बीच के कोण को कहते हैं?
    (अ) भ्रंशपात (ब) अवपात पार्श्व
    (स) भ्रंश अनुरेख (द) भ्रंश का उन्नमन

11. विषमविन्यास तल के ऊपर स्थित नवीन शैल श्रेणी तथा नीचे स्थित प्राचीन शैल श्रेणी जब समान्तर हो तो इस तरह का विषम विन्यास कहलाता है?
    (अ) कोणीय विषमविन्यास
    (ब) अपसमविन्यास
    (स) स्थानीय विषमविन्यास
    (द) असमविन्यास

12. हिमालय की वर्तमान ऊँचाई की स्थिति कब अर्जित की गई थी?
    (अ) 25 करोड़ वर्ष पूर्व (ब) 15 करोड़ वर्ष पूर्व
    (स) 5.5 करोड़ वर्ष पूर्व (द) 55 करोड़ वर्ष पूर्व

13. राजस्थान के कितने फीसदी क्षेत्र में मरूस्थल विस्तृत है?
    (अ) 12 फीसदी क्षेत्र में (ब) 63 फीसदी क्षेत्र में
    (स) 34 फीसदी क्षेत्र में (द) 45 फीसदी क्षेत्र में

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. पीठिका शैल किसे कहते हैं?
2. नदी विसर्पण किसे कहते हैं?
3. डेल्टा को परिभाषित कीजिए।
4. समभूकम्प रेखा किसे कहते हैं?
5. ज्वालामुखी कुण्ड को परिभाषित कीजिए।
6. समस्थिति शब्द का पहली बार प्रयोग किसने किया?
7. महाद्वीपों की कौनसी गति के फलस्वरूप आल्प्स और हिमालय पर्वत श्रृंखलाओं की उत्पत्ति हुई?
8. बेनी ऑफ जोन किसे कहते हैं?
9. वलन अक्ष किसे कहते हैं?
10. श्यान वलन को परिभाषित कीजिए।
11. आधार भित्ति को परिभाषित कीजिए।
12. होर्स्ट को परिभाषित कीजिए।
13. विषमविन्यास को परिभाषित कीजिए।
14. हिमालय पर्वत की उत्पत्ति कौनसे महाकल्प के दौरान हुई?
15. थार के रेगिस्तान का फैलाव कहां तक है?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. वायु द्वारा अपरदन कार्य पर टिप्पणी लिखिए।
2. वायु अपरदन किन कारकों से प्रभावित होता है?
3. वायुघृष्टाश्म, यारडांग व द्वीपाभ गिरि पर टिप्पणियां लिखिए।
4. बालू टिब्बों पर टिप्पणी लिखिए।
5. झाड़ झील या चाप झील पर टिप्पणी लिखिए।
6. भूकम्पीय तरंगों पर टिप्पणी लिखिए।
7. भूकम्पलेखी पर टिप्पणी लिखिए।
8. विभिन्न प्रकार के ज्वालामुखियों पर टिप्पणी लिखिए।
9. समस्थिति पर टिप्पणी लिखिए।
10. टेलर के महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धांत को समझाइये।
11. विनाशात्मक प्लेट किनारा पर टिप्पणी लिखिए।
12. वलन के विभिन्न भागों पर टिप्पणी लिखिए।
13. भ्रंश के विभिन्न भागों पर टिप्पणी लिखिए।
14. विभिन्न प्रकार के विषमविन्यासों पर टिप्पणियां लिखिए।
15. हिमालय पर्वत की उत्पत्ति को समझाइये।

निबंधात्मक प्रश्न

1. नदी तंत्र के विकास की चार प्रमुख अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
2. नदी के निक्षेपण से नदी घाटी में निर्मित विभिन्न प्रकार के रूप एवं आकृतियों का वर्णन कीजिए।
3. भूकम्प की तीव्रता के मरकाली पैमाना तथा भूकम्प के वितरण पर टिप्पणियां लिखिए।
4. ज्वालामुखी के केन्द्रीय उद्गार का वर्णन कीजिए।
5. वेगनर के महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धांत को समझाइये।
6. प्लेट विवर्तनिकी सिद्धांत को समझाइये।
7. विभिन्न प्रकार के वलनों का वर्णन कीजिए।
8. भ्रंशों के वर्गीकरण को समझाइये।
9. थार रेगिस्तान की उत्पत्ति को समझाइये।

उत्तरमाला : 1 (अ) 2 (स) 3 (अ) 4 (स) (5) द 6 (ब) 7 (अ) 8 (द) 9 (स) 10 (द) 11 (ब) 12 (स) 13 (ब)